Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 17 अंक जनवरी, 2003

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सह-सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा : सरला कल्ला

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष १७ अंक १ जनवरी, २००३

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सह-सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा : सरला कल्ला

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परामर्शदाता

१. गोविन्दचन्द्र पांडे, ११, द्वारा श्री वी. के. पाण्डे, ए-९० अलकापुरी पोस्ट आफिस, भेल, भोपाल- ४६२०२४
२. दयाकृष्ण, बी-१८९/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५
३. रमेशचन्द्र शाह, एम. ४, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल - ४६२००३
४. अशोक वाजपेयी, सी ६०, अनुपम कॉ-आपरेटिव ग्रुप हाऊसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-९६

संपादक

१. यशदेव शल्य, पी-५१, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर - ३०२०१५ दूरभाष २७०७४९३
२. मुकुन्द लाठ, ए.३७/३८, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-६ दूरभाष २२४३७३७ / २२९३७२५

सहायक-संपादक

१. अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर- २५८८८१ (म. प्र.)
२. (सुश्री) सरला कल्ला, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-३०२००४ दूरभाष २२००२९७

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. ५०/-
संस्थाएं — रु. ७५/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. ५००/-
संस्थाएं — रु. ५०००/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-५१ मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-३०२०१५ के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेज़र कंपोजिंग तथा जयपुर में मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनुक्रमणिका

१.	धर्म और नीति : मानव कर्म के सन्दर्भ में उपेय विचार	मुकुन्द लाठ	१
२.	सांख्यसम्मत 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' की समीक्षा	अम्बिकादत्त शर्मा	१९
३.	प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पाण्डे की तत्त्व-दृष्टि	यशदेव शल्य	२९
४.	उन्मीलन गोष्ठी-१		४३
५.	उन्मीलन गोष्ठी-२		५४
६.	पुस्तक समीक्षा		
	१. यशदेव शल्य का दर्शन	अम्बिकादत्त शर्मा	६०
	२. वैशेषिक दर्शन में पदार्थ-निरूपण	आनन्द मिश्र	८५
	३. जैन भारती पत्रिका (अनेकान्त विशेषांक)	राजवीर सिंह शेखावत	९२

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्म और नीति : मानव कर्म के सन्दर्भ में उपेय विचार (२)

- पिछले अंक से आगे -

मुकुन्द लाठ

अपूर्व विधि के सन्दर्भ में ऊपर की बात मनुष्य के स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य के बीच की स्थिति पर आ कर रुकी थी। हमारा स्वातन्त्र्य-बोध आत्मचेतना में स्थित होता हुआ औचित्य-बोध पालता है। पर यह बोध अभिव्यक्ति भी चाहता है—भीतर से बाहर की ओर उन्मुख होता है। सहज ही जीवन में रूप लेने की ओर झुकता है। रूप लेता भी है। ऐसी प्रक्रियाओं का—व्यापारों का—रूप लेता है जो स्वातन्त्र्य को पारतन्त्र्य की धरती पर स्थान दे सकें—'घर' दे सकें। विस्तार का अवकाश दे सकें। रूप-साधना के अपने लोक बना सकें। रूप के ये व्यापारमय लोक अर्थ-साधना के लोक होते हैं, जहां हमारा स्वतन्त्र औचित्य-बोध स्वातन्त्र्य साधता है। इसलिये इन्हें पुरुषार्थ के लोक भी कहा जा सकता है - जहाँ स्वातन्त्र्य अपना *तन्त्र* बुनता है। इन्हीं लोकों को मैं उपाय-लोक भी कह आया हूं।

हमारी बीच की स्थिति ऐसी स्थिति है जहाँ हम अपने स्वातन्त्र्य का बोध भी इन उपाय-लोकों के भीतर से ही करते हैं। ये हमारे स्वातन्त्र्य-बोध के साध्य भी हैं और साधन भी। ये लोक विशेष व्यापारों के लोक होते हैं, जो *मनुष्य* होने के नाते हमारे लिए सिद्ध भी होते हैं। पशुओं से हमें अलग करती यह ही इनकी *अपूर्वता* भी है। पर ये साध्य भी होते हैं - निरन्तर साध्य : तभी अपने स्वतन्त्र होने का संकेत भी हमें इन ही लोकों में मिलता है—स्वातन्त्र्य अपने आप में हमारे लिए 'अदृष्ट' ही रहता है। अरूप होता है। दृष्ट साध्य-व्यापारों में झलकता है। अपने आप को औचित्य-बोध के रूप में प्रकट करता है। जो साध्य होता है वह अन्यथा-करणीय भी होता है, और यह अन्यथा-करण का व्यापार हमसे सतत औचित्य की मांग करता है। हमारी चेतना का औचित्य-बोध-गर्भ होना ही उसे साध्य होने की धरती देता है। मनुष्य की यात्रा में—या परम्परा कहिये, उसमें—ये दृष्ट साकार उपाय-लोक 'विधि' का रूप लेते हैं। ऐसी विधि जो स्वातन्त्र्य के औचित्य-बोध को बनाये रख सके, एक उपाय-व्यूह और उपाय-क्रम का आधार बन कर नैरन्तर्य दे सके। ऐसा नैरन्तर्य जो मनुष्य-सामान्य हो। तभी विधि मनुष्य को पशुभाव से मुक्त करती 'अपूर्व' ही नहीं होती, मनुष्य-मात्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के लिये सहज, और यों 'सिद्ध' भी, कहला सकती है। साथ ही विधि का उपाय-व्यापार ऐसा होता है जो स्वातन्त्र्य को कार्य-कारण के पारतन्त्र्य में चरिष्णु रख सके। यहां विधि को अपूर्व कहने का एक और तात्पर्य उभरता है। कार्य-कारण भाव को अगर 'प्राकृतिक' व्यापार कहा जाये - ऐसा व्यापार जो मनुष्य से पूर्व था, जिसमें 'पीछे' मनुष्य की आत्म-चेतना और उसके औचित्य-व्यापार आविर्भूत हुए—तो इस 'पूर्व' स्थिति में आत्मचेतना और उसके विधि-रूप व्यापार 'अपूर्व' ही ठहरते हैं। ये 'अपूर्व' व्यापार प्रकृति को समेटते हुए, समोते हुए, ऐसे अतिप्राकृत अर्थलोक बनाते हैं जो प्रकृति में अवस्थित ही नहीं प्रतिष्ठित होते हुए भी प्रकृति से परे रहते हैं। प्रकृति की कार्य-कारण-तन्त्र गतानुगतिकता में स्वतन्त्र 'साध्य' के द्वार खोलते हैं।

भाषा इस अर्थ में एक अति परिचित विधि है। भाषा आत्मचेतना के साथ ही मनुष्य के जीवन में उदित होती है। भाषा मनुष्य-मात्र-सामान्य भी है। भाषा प्रकृति-सिद्ध नहीं है—चाहे उसके कुछ इंगित कुछ पशुओं में धुँधले से दीख पड़ें। पर मनुष्य के लिए स्वभाव-सिद्ध है भाषा। इसी अर्थ में मनुष्य के लिये अपूर्व भी है। भाषा उपाय होती है—साधन। अर्थमय साधन। अर्थ के बिना 'भाषा' का कोई अर्थ नहीं। और अर्थ सदा साध्य ही बना रहता है। तभी भाषा भी ऐसा साधन है जो स्वरूप से ही साध्य भी होती है। मनुष्य के रूप में हममें वह सदा 'सिद्ध' होती है, पर उसका प्रयोग साधते रहना पड़ता है। हर *प्रयोग*-साधना किसी साध्य की अपेक्षा रखती है। भाषा के कई साध्य हैं। भाषा से हम भाषा भी साधते हैं - व्याकरण में, वाग्मिता में। पर भाषा से हम और भी बहुत कुछ साधते हैं : विचार, कविता, आदेश-निर्देश, आठ-पहर का व्यवहार। ये साधनायें मार्ग चाहती हैं—हम कुछ साधते रह सकें, इसकी उपाय-सन्तति। यही विधि है - जो अपूर्व नहीं, *हमारी* साध्य है : विचार कैसे करें, क्या करें? या कविता कैसे करें, करें तो किसी विशेष प्रकार की कविता कैसे करें, किस रास्ते करें; और इस से भी बढ़ कर, वह कविता कैसे करें कि जिसमें काव्यत्व का मर्म, उसकी आत्मा, उसका अपना स्वातन्त्र्य, खुलकर आये? रास्ते बनते हैं - इन्हें ही हम परम्परा भी कहते हैं। कविता की परम्परायें होती हैं। विचार की होती हैं। और भी परम्परायें होती हैं। उन्हीं में कर्म की भी परम्परायें होती हैं। ध्यान देने की बात है कि हमारा स्वातन्त्र्य-बोध इन परम्पराओं में ही जन्म लेता है, पनपता है, विकसता है; इन परम्पराओं के बिना स्वातन्त्र्य-गर्भ औचित्य-बोध की बात वृथा है। ये परम्परायें ज्ञान, भाव, अध्यात्म, कर्म सब की होती हैं; सबको उपाय दिखाती चलती हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हम किसी उपाय-परम्परा में पलते हैं - उसकी विधि को आत्मसात् करते हैं। उसमें *व्युत्पन्न* होते हैं। विधि को आत्मसात् करना ही व्युत्पत्ति कहा जाता है; और आत्मसात् हुए बिना विधि का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि विधि का व्यापार, प्रयोग- व्यापार ही होता है—प्रकृति-सिद्ध कार्य-कारण व्यापार नहीं। तभी विधि साध्य भी होती है, साधन भी, और तभी विधि स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य के बीच उपाय-मार्ग बनाती है - भीतर रहती हुई बाहर प्रकट होती है। एक ओर विधि औचित्य-बोध के स्वातन्त्र्य की ओर खुली रहती है और अपने रूप को उस स्वातन्त्र्य के अनुकूल ढालते रहने की साधना करती है, पर दूसरी ओर यह मनुष्य की रहनी में स्वभावत: बनी रहती है—बनी ही नहीं रहती, मनुष्य की रहनी को मनुष्य की रहनी बनाती है। यों विधि की परम्परा औचित्य-बोध को घर देती है। मनुष्य की चेतना और उसकी अभिव्यक्ति का अभिन्न अंग होती है। भाषा को एक 'परम' विधि कहा जा सकता है — या विधियों की विधि। वह कई विधियों में साधन का रूप लेती है। मनुष्य की कई आत्मचेतन प्रवृत्तियों में व्यापक होती है। यहाँ तक कि आत्मचेतना मात्र पर भाषा की व्याप्ति की बात की जा सकती है। पर आत्मचेतना की प्रवृत्ति के भेदों का आधार भाषा में नहीं देखा जा सकता। उसका प्रवृत्तिमात्र पर व्यापक होना ही यहाँ ऐसे निष्कर्ष में बाधक होगा। ज्ञान, भाव, कर्म सब क्षेत्रों में भाषा साधन बन सकती है पर ज्ञान, भाव, कर्म इनके क्षेत्रों का भेद भाषा में नहीं है। चाहे भाषा में भेद का लक्षण विमर्श का विषय बन सकता हो।

लेख के आरम्भ में ही मैंने आत्मचेतना को प्रवृत्ति-स्वभाव कहा था और तभी 'कर्म' शब्द को एक बड़े व्यापक अर्थ में लिया था। इसी अर्थ-व्यापकता के सन्दर्भ में मैंने 'कर्म' की भाव, ज्ञान जैसी दूसरी प्रवृत्तियों से व्यावृत्ति का प्रश्न उठाया था। 'विधि' की धारणा को ध्यान में रखें तो व्यावृत्ति का आधार विधि-भेद में भी देखा जा सकता है। इसकी चेष्टा भी आगे करूंगा।

ऊपर मैंने यह भी कहा था कि मनुष्य के व्यवहार-जगत् को कर्म का क्षेत्र कहा जा सकता है—यह वह क्षेत्र है जहाँ मनुष्य मनुष्य के साथ रहता हुआ अपनी रहनी का रूप साधता है—व्यष्टि-व्यष्टि के सम्बन्धों में, समष्टि की समुदाय-व्यवस्था में, और समष्टि-समष्टि के सम्बन्धों में। कह सकते हैं कि यह - व्यवहार का जगत् —वह 'घर' है जहाँ रहता हुआ मनुष्य ज्ञान, भाव, अध्यात्म... के पुरुषार्थ साधता है। पर यह घर भी साध्य होता है - चाहे किसी अर्थ में हम इसे सिद्ध भी कह लें, क्योंकि प्रकृति के रूप में यह 'प्रदत्त' होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

व्यवहार को हम एक विधि (या विधि-व्यूह के) प्रवाह के रूप में पाते हैं। इसी में हम जन्म लेते हैं। बढ़ते हैं। मृत्यु को प्राप्त होते हैं। यह प्रवाह चलता रहता है। हमारे लिए सहज सिद्ध होता है प्रवाह। वैसे ही जैसे भाषा। भाषा ही की तरह जिस व्यवहार में हम जन्म लेते हैं उसे हम अनायास सीख लेते हैं। व्यवहार एक जटिल-विस्तृत क्षेत्र है; वह कैसा हो, यह भी साध्य होता है; इसकी बुनावट साध्य होती है। इसको बनाये रखना भी साध्य होता है। तभी यह भी एक पुरुषार्थ है। इसी पुरुषार्थ को परम्परा में 'धर्म' कहा गया है। धर्म साध्य होता हुआ 'धारक' भी होता है। पर इसका 'धारण' भी हमें करना होता है।

धर्म इस गौण अर्थ में भी सदा साध्य रहता है कि उसके रूपों को उसकी 'करनी' की परम्पराओं को बनाये रखना पड़ता है। पर साथ ही एक और गंभीर अर्थ में भी वह साध्य रहता है कि धर्म का स्वरूप क्या है ? उसका अपना साध्य क्या है ? क्या धर्म अपने आप में ही एक परम पुरुषार्थ है या वह दूसरे पुरुषार्थों का धारक मात्र है? धर्म को हम व्यवहार के साथ जोड़ें - जिस अर्थ में ऊपर जोड़ा गया है, उसे 'व्यवहार' का पर्याय सा ही बना दिया गया है—तो प्रश्न उठेगा कि क्या व्यवहार अपंने आप में भी पुरुषार्थ हो सकता है या यह दूसरे पुरषार्थों का साधन (माध्यम या उपकरण) मात्र है? हर साधन (उपकरण) विशेष साध्य को ध्यान में रखते हुए स्वयं भी साध्य होता ही है। क्या धर्म इसी अर्थ में साध्य है या उसका अपना भी कोई निहित स्वरूप है जो साध्य है ? यह संधान का विषय है। इसकी चर्चा आगे करूंगा।

जो भी हो, धर्म को कर्म की विधि तो कह ही सकते हैं : वह विधि जो भाव, ज्ञान, अध्यात्म से भिन्न कर्म के अपने औचित्य-बोध को व्यक्त करती है। भाषा ही की तरह धर्म की अपनी अपूर्वता होती है, जिसकी ओर साधारण धर्मों का उल्लेख करते हुए ऊपर इंगित कर आया हूँ।

बात विस्तार चाहती है। एक ओर व्यावृत्ति का प्रश्न एक नया रूप लेता दिखता है : आत्मचेतना की हर प्रवृत्ति अगर विधि पालती है और—जैसा कि ऊपर की चर्चा में व्यंजित है, ये प्रवृत्तियाँ विधि में पलती भी हैं—तो व्यावृत्ति का प्रश्न एक नये बाने में सामने आता है। विधियों का साधर्म्य-वैधर्म्य क्या? पहला प्रश्न होगा : धर्म से ज्ञान, भाव, अध्यात्म की विधियों का अंतर क्या ? दूसरा प्रश्न धर्म की व्यावृत्ति का नहीं, धर्म के अपने स्वरूप का होगा : धर्म का लक्षण क्या? उसकी विधि की प्रकारता क्या ? कैसी है वह? पर इन प्रश्नों की ओर मुड़ने से पहले विधि के ही स्वरूप को समझने की कुछ और चेष्टा करता हूँ। और नियम से उसके संबंध को -भेद को।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विधि प्रयोग को दिशा देती है। पर यही बात नियम के बारे में भी कही जा सकती है। पर नियम का क्षेत्र और अधिक व्यापक देखा जा सकता है। विधि और नियम के व्याप्ति-विस्तार-भेद में हम दोनों का तात्पर्य-भेद भी देख सकते हैं। नियम के अर्थ को प्रयोग पर ही नहीं, गतिमात्र पर लागू किया जा सकता है। हम अणु की गति, प्रकाश की गति, इनके नियम की बात कर सकते हैं। पर इनकी विधि का कोई अर्थ बनता नहीं दिखता। आशय यह कि नियम की बात क्रिया और कर्म दोनों क्षेत्रों में की जा सकती है, पर विधि का सम्बन्ध चेतन और वह भी आत्मचेतन कर्म से बनता है—विधि *प्रयोग* चाहती है, क्रिया मात्र नहीं। विधि *की* जाती है; *हो* नहीं जाती।

फिर भी नियम और विधि में पर्याय का सा भाव दिखता है। वह इस साधर्म्य के कारण दिखता है कि दोनों में एक योजना होती है—एक बंध-विन्यास, एक गतिशृंखला का तन्त्र। इस साधर्म्य के कारण ही नियम का अर्थ क्रिया और कर्म दोनों पर व्याप्त होता दिखता है। पर विधि का सम्बन्ध चेष्टा से है—सार्थक, सप्रयोजन चेष्टा से; कुछ किये जाने से। नियम की तरह वह गति के 'होने' मात्र से युक्त नहीं है।

फिर नियम में एक नियन्त्रण का - अनुल्लंघनीयता का -भाव साफ उभरता है। क्रिया के क्षेत्र में तो यह भाव होता ही है, जहाँ नियम क्रिया के स्वभाव का ही लक्षण होता है। पर 'नियम' की बात हम कर्म के क्षेत्र में भी जब करते हैं तो वहाँ भी एक अनिवार्यता का आशय रहता है कि 'काम यों ही किया जायेगा अन्यथा नहीं।' विधि में - इसके विपरीत - स्वच्छन्दता का अवकाश बना रहता है, क्योंकि उसकी बात होती ही कर्म के - स्वातन्त्र्य के - क्षेत्र में है, क्रिया के क्षेत्र में नहीं। विधि चेष्टा का द्वार होती है, प्रयोग के रास्ते दिखाती है। उन्हें कसती-जकड़ती-बाँधती नहीं। विधि में हम नुस्खों की बात कर सकते हैं कि 'यों भी किया जा सकता है' - जहां अन्यथाकरण की संभावना खुली रहती है। नियम में नहीं। विधि के पीछे कुछ ऐसी प्रेरणा होती है—या यों कहिये कि समझ या व्युत्पत्ति होती है कि यों करना सार्थक हो सकता है, यह करने का एक जाँचा हुआ तरीका है। नुस्खा है। विधि प्रवृत्ति या चेष्टा को उंगली थाम कर सहारा देती है, जबकि नियम का प्रवृत्ति के क्षेत्र में निर्देश 'यों ही कर सकते हो' की ओर होता है। या निषेध की ओर होता है कि 'यों न करो।' विधि कहती है: 'यों कर सकते हो' - और उसमें अन्यथा-भाव का इंगित प्रकट बना रहता है कि यहाँ उपाय कुछ और भी हो सकता है। नियम अन्यथा-भाव का प्रत्याख्यान करता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विधि में अन्यथा की सम्भावना उसके अनैक्य की, वैविध्य की, भी द्योतक है। यह अनैक्य बड़ा अनुभूत, बड़ा साक्षात् अनैक्य होता है। भाषा को ही लीजिये। हम 'भाषा' की बात करते हैं तो इस एकवचन में निहित बहुवचन को भूल जाते हैं। पर देखिये कि भाषा एक नहीं अनेक होती हैं। जितनी भाषाएं हैं उनसे और भी अधिक की कल्पना की जा सकती है—क्योंकि भाषा बदलती है। फिर ऐसा कोई आधार, कोई नियम नहीं जिस से यह उपपन्न हो सके कि भाषा के बदलाव की और भाषा के अनैक्य की परिधि *यह* है। संख्या की बात ही यहां व्यामोहमूलक होगी। कई भाषाओं के तो परस्पर रूप-भेद में ऐसा कोई साधर्म्य भी नहीं कि एक से दूसरी तक पहुँचा जा सके। जिस भाषा के संस्कार में हम न पले हों, जिसे सीखा न हो, वह हमारे लिए भाषा ही नहीं होती—उसके लिए 'भाषा है' इतना अनुमान भर ही हम कर पाते हैं। और यह अनुमान भी बनता इसी बोध पर है कि हम जानते हैं कि भाषाएं अनेक हैं, और मनुष्य का व्यवहार भाषा के बिना नहीं होता। हां, भाषा की एक ही प्रजाति के भीतर भाषा-भेद को हम पतंजलि की तरह एक ही भाषा के (संस्कृत के) विकार या 'अपभ्रंश' के रूप में भी देख सकते हैं। पर थोड़ा उतर कर देखिये तो अनेक को एक का 'विकार' कहना भी यहाँ अनेक ही कहने का प्रकारान्तर है - साथ ही किसी एक भाषा के प्रति पक्षपात। भाषा में ही नहीं मनुष्य के कर्म-मात्र में स्वभाव से ही अनैक्य पलता है—व्यष्टि व्यष्टि से ही अलग नहीं होता है उससे भी बढ़कर समष्टि भी समष्टि से अलग होती है—अलगाव में आमूल-चूल बसी होती है। भाषा तो इस बात की एक गहरी द्योतक भर है : हमारी आत्मचेतना में ही सन्निविष्ट द्योतक। अनैक्य की यह बात विधि मात्र में दिखती है। पर इसे विच्छेदमय भेद का बीज नहीं समझकर आत्मचेतना की सहज-बहुल सम्भावनामयी स्वातन्त्र्य-प्रेरणा के रूप में समझा जाना चाहिये। क्योंकि इस अनैक्य में ऐक्य का निषेध निहित नहीं है, क्योंकि इसमें परस्पर-भाव का भी द्वार है। भाषाओं का परस्पर-भाव ध्वनि या लिपि के रूप-साधर्म्य पर नहीं, अर्थ-साधर्म्य पर होता है। रूप का एकसापन बाहरी-बाहरी-सा होता है। सतही होता है - खोखला होता है। जहाँ सब यों एक हों—समान, सपाट—कि भेद ही न हो, वहाँ परस्पर-भाव की बात उठे भी तो बेमानी है। परस्पर-भाव भीतर का स्वभाव-भेद भी चाहता है—या यों कहिये कि उसका ऐक्य अनैक्य के बिना बन ही नहीं सकता। भाषा ही को लीजिये। भाषा का अनैक्य समष्टियों के अनैक्य का एक मुख्य आधार है। समष्टियों के अंतरंग-भेद का भी आधार है। पर यह परस्पर-भाव का अवरोधक नहीं है। भाषाओं के बीच राह बनती है जो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्मचेतना में भाषा-चेतना का अभेद भी दिखलाती है। हम एक-दूसरे की भाषा सीखते हैं, (या सीख सकते हैं); नहीं तो हम अनुवाद का सहारा लेते हैं - और यों एक भाषा दूसरी में प्रवेश ही नहीं करती, उसे समृद्ध भी करती है। मनुष्य-सुलभ, मनुष्य-साधारण भाषा-चेतना सहज ही मनुष्य-जनीन होते हुए भी अपनी सार्वजनीनता में ही विपुल अनैक्य पालती है। ऐक्य का यह अनैक्य भाषा में ही नहीं मनुष्य की सभी प्रवृत्तियों में - और यों विधियों में - झलकता है। हम ऊपर देख आये हैं कि हमारी भाषा हमारी संस्कृति-चेतना की द्योतक है। तभी हम देखते हैं कि संस्कृति-चेतना का ऐक्य भी अनैक्य की ही धरती पर रूप लेता है। परस्पर-भाव को भी जन्म दे सकता है, क्योंकि परस्पर-व्यवहार की प्रवृत्ति सार्वजनीन होती है। भाषा में ही नहीं अन्य अभिव्यक्तियों में भी विनिमय की विधि ढूँढ लेती है। यहाँ 'विधि' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर इसलिये कर रहा हूँ कि संस्कृतियों के विनिमय का कोई नियत पंथ नहीं होता— जब किसी उपाय-कौशल से मार्ग एक बार निकल आता है तब कुछ रूढ़, निश्चित-सा रूप लेने लगता है और नियम बनने शुरू होते हैं—जैसे यह कि अनुवाद अमुक ढंग से होना चाहिए। पर हम पाते ही हैं कि ऐसे नियम कितने ही रूढ़ हो जायें, कभी अनुवाद की कोई नितान्त अटूट पद्धति या कसौटी निर्धारित नहीं हो सकती।

अभी मैंने रूढ़ि की बात की। प्रश्न होगा : विधि अगर आत्मचेतन उपाय-मार्ग है तो रूढ़ि का उसमें स्थान कहां ? कहना न होगा कि परम्परा में रूढ़ि का बृहत् स्थान होता है। पर रूढ़ि का विधि से क्या सम्बन्ध ? विधि को हमने जैसा आँका है उस पटल पर तो सम्बन्ध का अभाव ही आगे आता है। बल्कि, रूढ़ि में विधि का प्रतीप - विधि-विपरीत, कार्य-कारण-सी लीक, गतानुगतिकता - ही दिखाई पड़ती है। विधि पर विचार करते हुए उसे अविधि से व्यावृत्त करना चाहें और इस रास्ते विधि के 'तत्' को पकड़ना चाहें तो अपोह के लिये जो पहला ही विपरीत 'तत्' आगे आयेगा 'रूढ़ि' ही होगा। आशय यह कि रूढ़ि की बात विधि के भीतर नहीं, विधि के बाहर से, 'विधि क्या नहीं है' यह समझने के लिये की जानी चाहिये। ऐसा ही किया भी जाता है। विधि के स्वभाव की द्योतक नहीं उसका अपोह है रूढ़ि।

पर एक और भी बात यहां ध्यान में अनायास उभर सकती है। रूढ़ि प्रवृत्ति को कसती-जकड़ती है। पर हमने देखा कि नियम भी यही करता है। रूढ़ि और नियम का फिर भेद क्या ? नियम भी तो विधि के प्रतीप के रूप में उभरता लगता है! विशेषकर अगर यह ध्यान में लायें कि नियम का सम्बन्ध क्रिया से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बिठाया है। क्रिया की गति तो स्वरूप से बंधन-सार होती है। कर्म में भी नियम निषेधपरक होता है। प्रयोग को बाँधता है, विधि की तरह खोलता नहीं है। प्रयोग के रास्ते नहीं दिखाता। नियम से यह व्युत्पत्ति नहीं बन सकती कि अब आगे क्या करूँ! प्रयोग-सन्तति के खुलेपन को बाँधने का ही काम नियम करता है। यही रूढ़ि भी करती है। स्पष्ट ही विधि में रूढ़ि और नियम के भेद की और इनके स्थान की चर्चा विस्तार चाहती है, जिस पर आगे एक बात साफ है— रूढ़ि और नियम के विचार में यहां थोड़ा भी डूब कर देखें तो दोनों के 'बाँधने' का भेद आत्मचेतना के स्तर-भेद की ओर इंगित करता है।

रूढ़ि संस्कारों में बसती है। जो होता आ रहा है उसकी सहज, निर्विचार अनुवृत्ति करती है। उसे परिवर्तन से बचाती है। गतानुगतिकता की परम्परा साधती है। जागृत औचित्य-बोध की धरती से नीचे अवचेतन में उतर कर हमें कसती है। तभी रूढ़ि की सी गति हमें पशुओं में भी दीख जाती है।

'नियम' शब्द के भी प्रयोग की एक दिशा है जिसे रूढ़ि-धर्मी कहा जा सकता है। नियम जहाँ निषेधपरक नहीं होकर विधिपरक होता है वहाँ रूढि की तरह ही 'यों ही किया जायेगा' का कसा हुआ मार्ग बनाता है। साध्य को सिद्ध रूप दे देना चाहता है।

पर रूढ़ि के विपरीत नियम जागृत व्यापार होता है। कहीं अधिक आत्मचेतन होता है। एक ओर व्याक्रिया की, विमर्श की, शास्त्र की मांग करता है, दूसरी ओर सचेतन रख-रखाव की। रूढ़ि की तरह स्वतोगति से नहीं चलता रहता। आत्मचेतना की दृष्टि से हम यहां तक कह सकते हैं कि रूढ़ि और नियम का यह भेद तत्त्व-भेद या कोटि-भेद जैसा गहरा भेद है।

लेख के आरम्भ में ही हम आत्मचेतना में ऊपर उठते सोपान उभारते चले थे—इस लेख का एक बड़ा लक्ष्य ही यही रहा है। अर्थ यह कि रूढ़ि और नियम के भेद को आत्मचेतना के तारतम्य की धरती पर देखा जाये तो भेद का स्वरूप अधिक स्पष्ट होगा।

एक बड़े साधारण, बड़े परिचित दृष्टान्त के रास्ते भी बात को उभारा जा सकता है। ये दृष्टान्त पहले भी ले चुका हूं - इनका सहारा, मैं समझता हूं, बड़े काम का है।

भाषा ही का फिर से दृष्टान्त लीजिए, या खेल का। स्पष्ट है कि भाषा में या खेल में एक विधि-बोध हम में जागता रहता है जो भाषा के प्रयोग को या खेल में खेलते हुए हम जो चालें चलते हैं उन गतियों को—उन विधियों को प्रेरित करता है। प्रयोग का यह प्रवाह जहाँ एक ओर औचित्य-बोध में, स्वातन्त्र्य में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पलता है, अनैक्य में पलता है, वहीं दूसरी ओर अवचेतन संस्कारों में पलता है : कोरी गतानुगतिकता में, अनुवृत्ति में। हम कह सकते हैं कि प्रयोग के - या विधि के - ये दो छोर हैं जिनके बीच विधि का व्यापार चलता है।

संस्कार या गतानुगतिकता के छोर पर भाषा एक सिद्ध या प्रदत्त शब्द-योजना के रूप में उभरती है। 'मेरे' लिए - किसी भी प्रयोक्ता के लिए—यह योजना पारतन्त्र्य में ही अवस्थित दिखती है। इस योजना का तन्त्र किसी वस्तु-योजना के तन्त्र की तरह ही चेतना से 'इतर' के रूप में देखा-परखा-आँका जा सकता है। व्याकरण यही करने की चेष्टा करता है। पदों के ध्वनिगत गठन के लक्षण उभारता है—पदों में प्रकार-भेद करता हुआ परस्पर-भिन्न प्रकार-श्रेणियों के सामान्य लक्षण उभारता है, वैसे ही जैसे वस्तुओं में साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर प्रकार-भेद करते हुए पदार्थों के सामान्य लक्षण उभारे जाते हैं। यों व्याकरण की व्याक्रिया का वस्तु की व्याक्रिया से—बाह्य परतन्त्र वस्तु की व्याक्रिया से—एक साधर्म्य बनता है।

बाह्य वस्तु की योजना को हम केवल स्थिति की दृष्टि से नहीं देखते, गति की दृष्टि से भी देखते हैं। वस्तु में हम परिवर्तन निहित पाते हैं तो वस्तु को देश में ही नहीं, काल में भी रखते हैं। यों तो केवल स्थिति की दृष्टि से भी वस्तु-योजना का तन्त्र बन सकता है—वैशेषिक की पदार्थ-योजना और पदार्थ-लक्षण-व्यवस्था को ऐसा ही स्थिति-प्रधान तन्त्र कहा जा सकता है। पर वस्तु-योजना को हम जब गति की दृष्टि से देखते हैं तो लक्षण की नहीं नियम की बात करते हैं—जहाँ वस्तुओं के काल-प्रवाह पर दृष्टि केन्द्रित होती है, जैसा कि हम आधुनिक विज्ञान में पाते हैं।

भाषा में भी स्थिति और गति दोनों देखी जा सकती हैं। अकसर हम भाषा को स्थिति की दृष्टि से ही देखते हैं। व्याकरण यही करता है। पर भाषा प्रयोग की चीज़ है तो काल की भी चीज है। व्याकरण तो उन भाषाओं का भी बनाया जा सकता है जो आज प्रयोग के बाहर हैं—जैसे प्राचीन मिस्र या सुमेरिया की भाषाओं को लीजिये। पर आज की हो या विगत की, कोई भी भाषा प्रयोग को ऊह्य रखती है : भाषा की पकड़ बन जाये तो आज भी प्रयोग खड़ा किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, भाषा का स्वरूप ही गतिमान होता है। इसीलिये भाषा के लक्षण के लिए 'नियम' शब्द उपयुक्त ही है - जैसा कि विज्ञान में भूत-प्रपंच की गति के लिये।

पर भाषा के नियम पदों पर और वाक्यों पर लागू होते हैं—पदों पर और पदों के परस्पर सम्बन्धों पर। यहाँ आते ही बात 'वस्तु' के घेरे से निकल जाती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'अर्थ' की बात हो जाती है। अर्थ वस्तु-तन्त्र नहीं। वह कार्य-कारण के पारतन्त्र्य में नहीं आत्मचेतना के स्वातन्त्र्य में स्थित होता है। तभी भाषा केवल *गति* की नहीं *प्रयोग* की वस्तु होती है। वस्तु-प्रवांह से प्रयोग का प्रवाह तत्त्वतः भिन्न है। बात जैसे ही प्रयोग की हो जाये विधि की कोटि में आ जाती है, जहाँ पारतन्त्र्य के साथ स्वातन्त्र्य भी होता है। एक ओर भाषा का एक योजना-तन्त्र है जिसमें वस्तु-जैसा परत्व देखा जा सकता है जिसका अपना ढाँचा बनता है— जो हम बनाते नहीं हैं, जो हमारे लिए सिद्ध 'प्रदत्त' होता है। जिसका अपना प्रवाह भी होता है जो भाषा के इतिहास के रूप में उभारा जा सकता है। जहां भाषा के रूपों में - पदों में, पदों के संबंधों में - परिवर्तन देखा जा सकता है; एक सीमा तक परिवर्तन में एक व्यवस्था, एक नियम-तन्त्र भी उभारा जा सकता है। हालाँकि मनुष्य के इतिहास ही की तरह भाषा का इतिहास भी विगत की बात कुछ भरोसे को साथ कर सकता है, भविष्य की नहीं।

भाषा की प्रयोग-गति में स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र के बीच की स्थिति को कई स्तरों पर देखा जा सकता है, जहाँ स्वातन्त्र्य में तर-तम भाव की भी पहचान की जा सकती है। एक ओर प्रंयोग रूढ़ि की ओर झुकता है—जहाँ भाषा दैनन्दिन, आठ पहर के बँधे-बँधाये व्यवहार मात्र की विधि होती है। पर यहीं भाषा का बदलाव, उसकी भेदप्रवणता अधिक उभर कर आती है। रूढ़ि के स्तर पर भाषा भिन्न समुदायों में भेद-वैविध्य की ओर भी झुकती है। रूढ़ि के स्तर पर भाषा का स्वरूपगत अनैक्य लक्षणीय है, जो प्रकट ही भाषा को बाह्य जगत् के वस्तु-प्रवाह से अलग ठहराता है। 'वस्तु' के स्वरूप में एक विश्वजनीन एकसापन होता है—मनुष्य मात्र के लिये वस्तु-जगत् वही - एक सा - वस्तु-जगत् होता है। यह साधारणभाव शायद हमारी इन्द्रियों के सर्व-साधारण होने में निहित है - चाहे 'वस्तु क्या है' यह विमर्श फिर अनैक्य की ओर ले जाता हो। वस्तु के विपरीत, भाषा स्वरूप से ही अनेक होती है। वस्तु के स्तर पर भी - ध्वनिसमूह के ही स्तर पर - अनेक होती है। पर भाषा के अंतरंग में प्रवेश करते हुए अर्थ की ओर दृष्टि डालें तो अनैक्य के साथ एक विचित्र, निगूढ़ सा ऐक्य भी उभरता है। भिन्न भाषाओं में पद भिन्न होते हैं, पद-विन्यास भिन्न होते हैं। वाक्य का गठन भिन्न होता है। पर एक का दूसरी में 'अर्थान्तर' या उल्था संभव हो उठता है। तभी सभी भाषाओं के एक ही निगूढ़ व्याकरण की बात की जाती है। है यह एक कल्पना ही, क्योंकि ऐसा कोई 'महा' व्याकरण बना नहीं है - न उसके बनने की संभावना ही बनी है। फिर यह कल्पना भी भाषा को नहीं, भाषा-*चेतना* की संरचना को पकड़ने का दम भरती है। भाषा के बाहर भाषा का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आधार ढूंढती है। ऐसे प्रयास को व्याकरण कहना ठीक भी है या नहीं, प्रश्न ही रह जाता है। फिर यह भी सोचने की बात है कि ऐसा व्याकरण उभारा भी जाये तो वहाँ भिन्न भाषाओं के सामान्य लक्षण की बात वैसे तो नहीं की जा सकेगी जैसे वस्तु-योजना के सामान्य लक्षण की बात की जा सकती है। भाषाओं का परस्पर भाव अनुवाद के स्तर पर ही उभरता है, जहाँ दो भाषाओं को एक-दूसरे में ढालने के लिए हम अर्थचेतना के आत्मबोध में खड़े हो कर भिन्न भाषाओं के एक 'सामान्य' को पकड़ते हैं। पर इस सामान्य को वस्तु-सामान्य जैसा सामान्य नहीं कह सकते। यह इन्द्रिय के रास्ते नहीं अर्थ-विमर्श के रास्ते चलता है। अनुवाद-व्यापार में अर्थ-चेतना के भाषा-बाहर होने का इंगित अधिक है, न कि इस बात का कि दो भिन्न भाषाओं में भाषा के शरीर की दृष्टि से कोई ऐक्य है। भाषा-शरीर के स्तर पर तो स्फुट अनैक्य का ही साक्षात् होता है जो व्याकरण के अनैक्य में भी प्रकट होता है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह भी है कि भाषा की योजना का व्याकरण के रूप में स्फुट होना भी केवल एक 'जानने' मात्र की बात नहीं होती। इसका भाषा के प्रयोग पर भी प्रभाव पड़ता है। तभी इन लक्षणों को नियम कहने में एक 'नियमन' की व्यंजना भी स्फुट है। व्याकरण एक आत्मचेतन व्यापार होता है जो भाषा के स्वरूप को प्रकट ही नहीं करता, उसे बाँधता भी है : व्याकरण-ज्ञान वस्तु-योजना के नियम-ज्ञान से भिन्न होता है। वस्तु-योजना का नियम-ज्ञान कार्य-कारण के रूप में उभरता है, इस ज्ञान को हम अपने प्रयोजन में ला सकते हैं, ऐसे प्रयोजन में जो वस्तु-बाह्य होता है—हमारा प्रयोजन होता है, वस्तु का नहीं। कार्य-कारण का ज्ञान यंत्र-विधि का या शिल्प-विधि का अंग बन सकता है। यों विधि का अंग बनकर यह स्वातन्त्र्य में स्थित हो जाता है—कार्य-कारण का अपना परतन्त्र-व्यापार मात्र नहीं रहता। वस्तु-गति में हम वस्तुओं के परस्पर संबंध को नियमों में उभार कर वस्तु पर वस्तु को अपने प्रयोजन का अंग बनाते हैं। पर भाषा के नियम उभारते हैं तो हम ही प्रयोज्य हो जाते हैं - अपने *प्रयोग* का नियमन करना सीखते हैं।

वस्तु के नियम कार्य-कारण के नियम होते हैं—इसीलिए ज्ञान की दृष्टि से ये नियम एक ओर वस्तु-तंत्र होते हैं तो साथ ही विश्वजनीन भी होते हैं। भाषा के नियम कार्य-कारण से नहीं, विधि से सम्बन्ध रखते हैं—उनका नियम *बनाये रखना* पड़ता है। इसके लिए आत्मचेतन प्रयत्न की आवश्यकता होती है। ये नियम उभारे ही नहीं, सीखे जाते हैं ताकि हम अपने प्रयोग को इनसे बाँध सकें। 'संस्कृत' कर सकें। व्याकरण की प्रक्रिया ही इस 'संस्कृत-करण' के आदर्श में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

निहित होती है। क्योंकि ये नियम केवल बंधन नहीं होते हैं, इनके पीछे एक औचित्य-बोध काम करता है—एक आदर्श। 'संस्कृत' प्रयोग, सु-संस्कृत प्रयोग होता है; 'शिष्ट' का प्रयोग होता है।

शिष्टत्व की धारणा औचित्य-बोध में जड़ रखती है तो वहां औचित्य-बोध का सहज वैविध्य भी देखा जा सकता है - जो स्वातन्त्र्य का लक्षण भी है। शिष्ट कौन? कैसा प्रयोग करें? इसका कोई एक बँधा हुआ या अद्वय 'शिष्ट' उत्तर नहीं हो सकता। हां, शिष्टता की परम्परायें *बँधती* भी हैं—प्रथा में, रीतियों में बँधती हैं; ऐसी परिपाटियों में हम शिक्षित होते हैं। लेकिन फिर प्रयोग के एक और ऊर्ध्वतर, स्वच्छंद धरातल पर प्रयोग की व्यक्तिगत शैलियों से वैविध्य को एक और क्षितिज में विकसित-पल्लवित करते हैं। बात के तात्पर्य को उजागर करने के लिए शिष्ट-प्रयोग और शैली के अन्तर पर ध्यान दीजिए। शिष्ट-प्रयोग नियम की अपेक्षा रखता है जिससे प्रयोग की प्रयोक्ता-मात्र-साधारण परिपाटी साधी जाती है। यह नियम-विधि स्वैर, यथेच्छ प्रयोग को मर्यादित करती है—एक परिधि में बाँधती है। शैली का काम उलटा है। शैली स्वच्छंद होने का द्वार है। आप कह सकते हैं कि तो फिर शैली के लिए विधि की बात अर्थ नहीं रखती। पर ऐसा है नहीं—शैली भी सीखी जा सकती है। कविता में (कलामात्र में) शिक्षा ही शैली की शिक्षा होती है। शैली सीखी जा सकती है तो उसकी एक सीमा तक व्याक्रिया भी की ही जा सकती है—जो हम करते ही हैं। हम शैलियों के गुणधर्म उभारते हैं। उनकी संरचनाएं स्पष्ट कर के उनके नुस्खे बनाते हैं। शैली का हम जहां तक हो सके परिमापन करते हैं : संस्कृत काव्यशास्त्र में भिन्न शैलियों के पद प्रयोग में वर्ण-भेद-विन्यास (ट, ठ, ड, ढ जैसे कठिन-कर्कश या क, ख, ग जैसे नरम, मधुर वर्ण की मात्रा के भेद से भिन्न शैलियों का आकलन); समास की मात्रा के भेद के आधार पर रीति-भेद, इन से हम परिचित ही हैं। शैली को हम अगर पहचानते हैं कि अमुक शैली है तो इस पहचान को कुछ आंकड़ों में ढाला भी जा ही सकता है।

यहां आपत्ति हो सकती है कि 'पर शैली का यही तो सब कुछ नहीं है, शैली का एक अन्तरंग होता है जिसको आंका नहीं जा सकता और जो व्यक्तिगत शैली की विलक्षणता में - उसकी अनन्य विशिष्टता में - साक्षात् उभर कर आता है। यह तो ठीक ही है। पर यह बात तो विधि की विधिरूपता ही दिखाती है। जैसा कह चुका हूँ, विधि आत्मचेतना के रूपायण का मार्ग है जिसके माध्यम से आत्मचेतना का स्वातन्त्र्य-गर्भ औचित्य-बोध रूप लेता है। रूपायण का यह व्यापार कार्य-कारण से भिन्न है (चाहे कार्य-कारण को भी अपने अन्दर समेटता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हो)। यह व्यापार कार्य-कारण से भिन्न इसीलिए है कि इसमें रूप के बहिरंग के साथ एक अन्तरंग भी होता है। ऐसा अन्तरंग जो दृष्ट रूप में अदृष्ट रहता है, उसे अर्थ देता है, और सदा साध्य बना रहता है—अरूप, अनिर्धार्य, अथाह रहता है। यही विधि का दूसरा छोर है।

इस चर्चा में हम विधि के आत्मचेतना में निष्ठ स्तर-भेद उद्घाटित होते देख रहे हैं। यह बात भी विधि के औचित्य-बोध-परक स्वातन्त्र्य का स्पष्ट संकेत है। कार्य-कारण के पारतन्त्र्य से उसे बिलकुल अलग करती है। कार्य-कारण में ऐसे किसी स्तर-भेद की बात वृथा है—क्या तात्पर्य होगा उसका? हम यह तो कह सकते हैं कि कार्य-कारण परम्परा का भी एक अदृष्ट सम्बन्ध देखा जा सकता है : कार्य-कारण का आदि भी अदृष्ट है, अन्त भी। हम जिसे विधि कह रहे हैं उसी की तरह कार्य-कारण का भी मध्य ही दृष्टि की सीमा में आता है।

एक अर्थ में बात ठीक है—पर एक 'आशयहीन-से' ही अर्थ में ठीक है। कार्य-कारण-परम्परा के आदि और अन्त में 'अदृष्ट' की बात किसी सार्थक 'अदृष्ट' की बात नहीं हो सकती। कार्य-कारण व्यापार का लक्षण ही उसे जड़, 'निराशय' व्यापार बताता है। उसके अर्थ या तात्पर्य की—आशय की—हम बात करें तो उसे किसी विधि के ही घेर में डालते हुए कर सकते हैं, जहाँ कार्य-कारण उपाय-गर्भ हो जाता है और उपेय कार्य-कारण के परे अर्थमय कुछ और होता है। कार्य-कारण के संदर्भ में उद्देश्यमयी चेतना की बात भी की जाती है, जैसे ईश्वर को कार्य-कारण का धारक या स्रोत कहते हैं। पर तब कार्य-कारण प्रयोजनमय हो जाता है और यों उपायगर्भ। कार्य-कारण का प्रयोजन-रिक्त *विशुद्ध* रूप क्रिया की ही जड़ गति का दूसरा नाम है। उसके आदि-अन्त में हम अदृष्ट की बात करना चाहें तो वह *क्रिया* का ही जड़ अदृष्ट होना चाहिये, *कर्म* का नहीं। कर्म का दृष्ट जहाँ विधि होती है वहीं उसका अदृष्ट अपने 'आदि' या अपूर्व छोर पर आत्मचेतना के आशयनिष्ठ (औचित्यबोधमय) स्वातन्त्र्य में निहित होता है और 'अन्त' संधान का सदा साध्य रहता है। विशुद्ध क्रिया के आदि-अंत का ऐसा स्वरूप अकल्पनीय है।

इस विचार में थोड़ा भी उतर कर देखें तो यहाँ हम यह भी देख सकते हैं कि कार्य-कारण और विधि के प्रसंग में आदि और अन्त का अर्थ भी सन्दर्भ-भेद से नितान्त भिन्न तात्पर्य रखता दिखता है। कार्य-कारण-व्यापार सर्वथा कालनिष्ठ होता है—कालक्रम की श्रृंखला के भीतर रहता है। यहाँ तक कि हम काल में क्रम की श्रृंखला को और कार्य-कारण के नियमित प्रवाह को एक ही प्रवाह के दो पक्षों के रूप में देख सकते हैं—दोनों युगनद्ध हैं, एक ही व्यापार के दो रूप।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कार्य-कारण के अदृष्ट की बात करें तो ऐसा अदृष्ट किसी क्रम के आदि-अन्त का अदृष्ट होगा : इस अर्थ में कि हमारे लिये कार्य-कारण के क्रम का आदि और अन्त ज्ञान के घेरे में नहीं आ सकता—न उसके पिछले छोर तक हम जा सकते हैं, न अगले छोर तक। क्योंकि क्रम का यहां स्वरूप ही यह है कि कड़ी पर कड़ी बिना रुके अनन्त भाव से जुड़ती चली जा सकती है। किसी आदि पर हम पहुँचे तो एक गिनती और जुड़ जायेगी; और यही बात अंत के साथ होगी। ऐसा न हो तो हम 'क्रम' की बात ही नहीं कर रहे होंगे। काल और कार्य-कारण दोनों इसी अर्थ में क्रम हैं—और कार्य-कारण काल के क्रम में स्थित हैं। 'स्थित' ही नहीं, हम यों भी कह सकते हैं कि कार्य-कारण काल के क्रम की अभिव्यक्ति है—कार्य-कारणभाव को बिल्कुल हटा दें तो क्या काल में किसी 'क्रम' की बात की जा सकती है? क्रम में एक नियत घटकों का नितान्त ऋजु रेखा-निष्ठ भाव होता है। कार्य-कारण को हटा देने पर काल को मानें भी तो उसमें क्रम के माने जाने की आवश्यकता नहीं दिखती।

विधि सर्वथा कालनिष्ठ व्यापार नहीं है। उसके मध्य को ही हम काल में रख सकते हैं, उसका आदि-अन्त जिस अदृष्ट में रहता है उसे काल-बोध से नहीं जोड़ा जा सकता। उसके आदि को 'अपूर्व' कहने का एक अर्थ उसे काल-बाहर कहना ही है। उसे चेतना की अपनी स्वतन्त्र प्रक्रिया में रखना है जो काल में आविर्भूत तो होती है पर जिसकी गति कार्य-कारण और नियत घटकों के परिमित क्रम में नहीं समेटी जा सकती, न ऋजु रेखा के रूप में आँकी जा सकती है। विधि के आविर्भाव का आदि जिस चेतना में होता है उसके लिये काल की बात सार्थक इसलिये भी नहीं क्योंकि यह आविर्भाव कार्य-कारण की जड़-शृंखला में समाता नहीं दिखता। तर्क को, कविता को; भाषा मात्र को काल में रखना उस अर्थ में संभव नहीं जिस अर्थ में प्रकृति की कार्य-कारण प्रक्रिया काल *में* ही घटित होती है। फिर यह भी देखिये कि विधि के आदि को हम कार्य-कारण की सन्तति से किसी तरह संश्लिष्ट करते हुए उसे काल में रख भी दें तो भी उसके अन्त को काल में कैसे रक्खेंगे? काल के स्वरूप को 'सपाट' कहा जा सकता है - व्यंजना यह है कि काल का अंत प्रक्रिया की उसी क्रम-भूमि पर रहता है जिस पर कि उसका आदि रहता है। प्रक्रिया में कोई स्तर-भेद नहीं उभरता है चाहे उसका आदि-अंत अदृष्ट रहता हो। सारी प्रक्रिया एक 'सिद्ध' प्रक्रिया होती है। इसी रूप में आकलित की जाती है। पर विधि का अन्त 'साध्य' होता है। विधि कार्य-कारण की नहीं, अर्थ-साधना की उपाय-प्रक्रिया है। वह संधान चाहती है। उसकी गति में बात केवल क्रम की नहीं, *बढ़ने* की,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विकसने की होती है। उसकी गति क्रम तक ही सीमित रह जाये तो हम उसे गति नहीं, लीक कहते हैं। गतानुगतिकता या रूढ़ि, जो बढ़ना नहीं, रुक जाना है। गति बढ़े तो 'उन्मेष' साधती है—जो चेतना का प्रकाश-धर्म है, जिसके लिए हम खुलना, ऊपर उठना, गहराना, फैलना जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिनका सम्बन्ध मात्रा या परिमाण से नहीं चेतना की लौ के धरातल से होता है। ऐसे बढ़ने का 'अन्त' किसी क्रम के अन्त की तरह केवल तर्कतः अनाकलनीय नहीं होता, स्वरूपतः अनिर्धार्य होता है।

आपत्ति उठाते हुए यहाँ मैं जो कह रहा हूँ उसके विपरीत एक बात कही जा सकती है : कि जिसे मैं 'साध्य' कह रहा हूँ उसे सान्त भी कहा जा सकता है - कहा ही गया है; माना ही जाता है कि धर्म का साध्य है मोक्ष, जो एक अनंत स्थिति है जहां धर्म अपने अंत को पा लेता है। जबकि जिसे क्रम कहते हैं, उसका अन्त सचमुच ही पकड़ से बाहर होता है क्योंकि क्रम की धारणा ही उसे पहुँच के परे रखती है। अर्थ- साधना के लिए मैं 'पुरुषार्थ' शब्द का भी उपयोग करता रहा हूँ। पुरुषार्थ की धारणा साध्य की ही धारणा है। पुरुषार्थ की साधना में विधि की बात सार्थक है, स्तर-भेद की बात भी सार्थक है, पर वहाँ साध्य की उपलब्धि की बात भी की ही जाती है—मोक्ष ही नहीं, ब्रह्म, निर्वाण, कैवल्य ... इनके स्वरूप एक हों या भिन्न हों, ये साध्य ही नहीं सिद्ध भी हैं। ये स्थितियां हैं। इन्हें पाया जा सकता है। ये उपलभ्य 'अन्त' हैं; क्रम के विपरीत सचमुच ही 'अन्त' हैं। बात को और बढ़ाया भी जा सकता है। साध्य का क्षेत्र अध्यात्म ही नहीं, ज्ञान भी है, भाव भी है। ज्ञान में सत्य को साध्य कहा जा सकता है—और सत्य पा लेने का दावा किया ही जाता है चाहे बात विवाद की रह जाती हो। भाव में तो *रस* की प्राप्ति होती ही रहती है। सत्य मिल जाता हो या नहीं, उसके बारे में यह कहना कि वह स्वरूपतः साध्य है, सिद्ध हो ही नहीं सकता—इस बात का कोई सार्थक आशय नहीं बनता दिखता। ऐसी ही बात साध्य के दूसरे क्षेत्रों के बारे में भी कही जा सकती है।

इस आपत्ति पर विचार यहाँ नहीं करूंगा। बाद में प्रसंग आया तो करूँगा। पर एक बात आपत्ति के भीतर से ही व्यंजित होती दिखती है। 'अन्त' का यहाँ अर्थ ही बदल गया दिखता है। उसका संबंध सिद्ध से नहीं, 'साध्य' से है, औचित्य बोध से है। तभी उसके विषय में अंत का प्रश्न विचार में ही दिशा-भेद ला देता है, जो अन्त की धारणा को क्रम की धारणा से बिल्कुल भिन्न बोध की ओर ले जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एक प्रश्न और हो सकता है : काल को कार्य-कारण से किसी रूप में अविनाभूत या स्वरूप से सन्निहित मानते हुए - या यों कहिये कि कार्य-कारण और काल को एक ही कोटि का तत्त्व मानते हुए, ऊपर उसे क्रम से जिस तरह जोड़ा गया है वह काल को सीमित रूप में देखना नहीं है क्या ? काल को यों देखना उसे *भौतिक* जगत् के ही परिमित परिप्रेक्ष्य में देखना है। अब उसे हम चाहे अपने इन्द्रिय-बोध में निहित ज्ञान की प्रकारता के रूप में देखें या भूत-प्रपंच की गति को अवकाश देता प्रसार कहें - बात एक ही धरातल पर रहती है : काल को केवल बाह्य जगत् से जोड़ती है, तभी उसे कार्य-कारण और क्रम जैसे प्रत्ययों की आँख से देखती है। पर काल के दूसरे आयाम भी देखिये। संगीत का काल देखिये या कहानी का काल, या स्वप्न का काल: वहां भी काल को अवयवों में बाँटा जा सकता है - पर ये अवयव किसी अवयवी के सापेक्ष होते हैं, जो अवयवी काल के बाहर होता है (*भौतिक* काल में होते हुए भी उसमें *समाता* नहीं है)। पर इन अवयवों के कोई ऐसे घटक नहीं बनते जिन्हें अणु-अणु में विभाजित कर एक क्रम की निरंतर रेखा के रूप में कल्पित किया जा सके। संगीत में, कहानी में, स्वप्न में... अवयव-व्याक्रिया ही भिन्न होगी - क्योंकि वहां बात मात्रा की नहीं गुण की होती है - ऐसे गुणों की जिनका संबंध भावना-जगत् से होता है, भूत-जगत् से नहीं। कार्य-कारण की बात तो यहां और भी विसंगत होगी। स्वप्न को हम चित्तगत किसी कार्य-कारण प्रवाह से जोड़ें भी तो भी स्वप्न की समझ सर्वथा कार्य-कारण-गत नहीं की जा सकती। और स्वप्न के अवयवों को तो हम काल के किसी अणु-क्रम में व्याकृत नहीं करते। उसकी काल-व्याक्रिया तो उसे कहानी के रूप में देख कर ही की जा सकती है, जहां काल केवल गणित-लभ्य *मात्रा* की बात नहीं रह जाता। अवयव का *सार्थक* होना व्याक्रिया की कसौटी हो जाता है।

तो हम देख सकते हैं कि प्रश्न का उत्तर यहां प्रश्न में ही व्यंजित है। काल के स्वरूप से क्रम और कार्य-कारण की युगनद्ध रेखा को हटा दें तो काल की धारणा ही और हो जाती है। यह धारणा क्या ? कैसी ? इस धारणा का उस धारणा से साधर्म्य-वैधर्म्य क्या जिस धारणा को काल की 'बाह्य' या 'भौतिक' धारणा कहा जा सकता है ? ये प्रश्न स्वभावतः उठते हैं, पर यहां तो स्थान-च्युत ही ठहरते हैं। पर हम यहां तत्त्व की दृष्टि से काल का स्वरूप जो कुछ भी निर्धारित करें, एक बात साफ गूंजती है : काल अब किसी अर्थमय व्यापार का अंतरंग हो जाता है - और उस व्यापार का 'अंत' (और यों 'आदि' भी) अब काल में नहीं रहता। 'अन्त' का तात्पर्य ही अब 'ठीक, समुचित, अंत बना या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नहीं ?' ऐसे प्रश्नों से घिर जाता है, जो सार्थकता के प्रश्न हैं। दूसरे शब्दों में, 'अन्त' अब *साध्य* हो जाता है - ऐसा साध्य जो काल *में* रूप लेता है, काल-रूप नहीं होता। सार्थकता का साध्य क्या ? यह प्रश्न कितना ही सताये, उलझन में डाले, पर सार्थक को निरा *काल*-साध्य तो नहीं कह सकते! संगीत-व्यापार को ही लीजिये। संगीत की कृतियां काल के बिना नहीं बनतीं। काल को माध्यम भी बनातीं हैं; आधार भी। संगीत की हर कृति का हर अवयव काल को (भौतिक काल को) एक विशेष अंतराल के सन्निवेश में ढालता हुआ ही गठित होता है। काल का यह अंतराल-सन्निवेश बदल जाये तो अवयवी भी बदल जा सकता है। और यों पूरा संगीत भी। क्योंकि उसी अवयव-सन्निवेश के द्रुत या विलम्बित हो जाने से संगीत का *भाव* बदल जाता है। यों संगीत के हर अवयव का एक आदि-मध्य-अंत होता है, जो पूरी कृति के आदि-मध्य-अंत को एक नई ध्वनि (नाद और व्यंजना दोनों अर्थों में नई ध्वनि) दे सकता है। ऐसी बुनावट के बिना *संगीत* की कृति का होना ही अकल्पनीय है। जिस बदलाव की यहां बात कर रहा हूं वह संगीत की किसी भी कृति में कर के देखा जा सकता है - ऐसे में प्रश्न होगा कि फिर कृति 'वही' रही कि नहीं ? जो भी उत्तर हम देंगे, भाव के आधार पर देंगे, अवयवी-बोध के आधार पर देंगे, निरे काल या उसके अंतराल के आधार पर नहीं। हो सकता है कि कृति के द्रुत-विलम्बित में हेर-फेर करते हुए लगे कि अब कृति सचमुच अपने स्वभाव में आई है - 'वह' हुई है जो उसे होना चाहिये। स्पष्ट ही कृति के लिये काल माध्यम भर है। उसी कृति की जब हम अनुवृत्ति करते हैं तो यह भी उजागर हो जाता है कि कृति के लिये काल (भौतिक काल) केवल आधार ही है - कृति का कृति होना काल *में* नहीं है। वह काल के अपने प्रवाह से अलग है। कृति की निर्मिति संगीत-गत औचित्य को भाँपती है, काल रूपायण का अंग मात्र होता है - काल का भौतिक क्रम संगीत के सार्थक अंतरालों में बदल जाता है। अब जो प्रश्न होता है उसकी तह में जिज्ञासा यह रहती है कि संगीत क्या है ? - बल्कि यों कहिये कि क्या हो? - संगीत विषयक यह जिज्ञासा कभी सन्तुष्ट नहीं होती। चाहे भौतिक काल के भीतर एक-के-बाद-एक निरंतर कृतियों का पसारा बिछता चला जाये, संगीत क्या? यह जिज्ञासा सदा साध्य ही रहेगी। क्योंकि संगीत का संबंध औचित्य-बोध से है - चेतना की स्वतन्त्र वृत्ति से। उसका व्यापार अंतरंग है जो बाहर सदा घर बनाते हुए भी घर की खोज में रहता है। ऐसी कृतियां जो पूरी-हो-गईं, या 'सम्पन्न' मानी जाती हैं, और जिनका हम उसी रूप में संरक्षण करते रहते हैं, उनमें भी यह अंतरंग व्यापार कभी सम्पन्न नहीं होता। इसकी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चरिष्णु गति किसी स्थाणु 'स्थिति' की पकड़ में नहीं आती, चाहे कृति को कैसा ही पूरा, कितना ही प्रतिभा-सम्पन्न माना जाये। व्यापार का सत् उसकी गति में है, स्थिति में नहीं।

जो भी हो, व्यापार की अंतरंगता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यही दिखाने के लिये मैंने काल की चर्चा उठाई थी। मैंने संगीत का उदाहरण लिया क्योंकि संगीत काल-निष्ठ शिल्प है। नृत्त का भी उदारण लिया जा सकता था। नृत्त अपने काल-निष्ठ स्वभाव में संगीत के समकक्ष है। कथा-कहानी में भी काल-निष्ठता होती है, पर वहां काल का स्वरूप भिन्न उभरता है। कहानी काल में वैसी साक्षात् स्थित नहीं होती जैसे कि संगीत और नृत्त होते हैं। संगीत और नृत्त की *प्रस्तुति* जिस काल में होती है उसी काल को ये कलायें अपने भीतर समोती हुईं उसे अपना सा अंतरंग रूप देती हैं। पर कहानी का *कहना* (या पढ़ना) जिस काल में होता है कहानी का अंतरंग काल, उसमें अवस्थित घटनावलि का काल, उसका अपरोक्ष काल से कोई संबंध नहीं होता। कहानी का प्रस्तुति-काल कहानी के अंतरंग काल से कोई संबंध नहीं रखता।

कहना न होगा संगीत, नृत्त, कथा-कहानी, इनकी अभिव्यक्ति, भाषा-तुल्य ऐसे व्यापार हैं जिन्हें मैंने 'विधि' की कोटि में रक्खा है। पर जो बात यहां उभार कर कहना चाह रहा था वह थी विधि की अंतरंगता में आत्मचेतना के स्तर-भेद की बात, और कार्य-कारण की जड़, देश-काल के एक-आयाम-में-बँधे प्रवाह में ऐसे किसी स्तर-भेद का अभाव। विधि कार्य-कारण के पारतन्त्र्य और तन्निष्ठ काल में स्थित होती हुई भी अपना स्वातन्त्र्य रखती है : संगीत का दृष्टांत दिखाता है कि हमारे परिचित दैनन्दिन काल की ही अवधियों-परिधियों में बसता हुआ भी संगीत अपना स्वतन्त्र काल साधता है। देश-निष्ठ कलाओं का उदाहरण लें - चित्र, स्थापत्य या वास्तु को ध्यान में रक्खें - तो वहां भी देखा जा सकता है कि 'देश' वहां संगीत में काल की तरह ही अपनी स्वतन्त्र स्थिति रखता है। यहां हम यह भी देख सकते हैं कि विधि का एक छोर जहां बाह्य जगत् में पाँव रखता है उसके दूसरे छोर के चरण आत्मचेतना के अपने जगत् में होते हैं।

विधि-व्यापार में जो स्तर उभरते हैं, उनका कुछ और खुलासा करते हुए बात को आगे बढ़ाऊंगा। पर एक बार यहीं रोकता हूं।

क्रमशः

ए ३६-३७, विश्वामित्र मार्ग,
श्याम नगर, जयपुर-३०२००६

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सांख्यसम्मत 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' की समीक्षा

अम्बिकादत्त शर्मा

आस्तिक परम्परा के सभी दर्शनों में इस बात को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप में स्वीकार किया गया है कि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों से होती है। 'सिद्धि' शब्द को अवबोधार्थक मानकर इस अभ्युपगम की वैधता पर कोई प्रश्न नहीं उठाता, लेकिन जब हम इसे एक तत्त्वमीमांसीय परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो प्रश्न का पूरा कलेवर ही बदल जाता है। ऐसा इसलिए कि भारतीय दार्शनिक अपने प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के लोकसम्मत होने का दावा तो करते हैं, लेकिन उनके प्रयास को तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से तटस्थ नहीं कहा जा सकता। वास्तव में तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता में लोकानुभव की व्याख्या करना ही आस्तिक परम्परा के दर्शनों का स्वीकार्य पक्ष प्रतीत होता है। एतदर्थ प्रमाणों के स्वरूप, विषय एवं विनियोग पर सर्वत्र तत्त्वमीमांसीय अधिशासन की छाया दिखती है। भारतीय दर्शनों का प्रमाणमीमांसीय पक्ष जैसे-जैसे विकसित होता गया वैसे-वैसे प्रमाणों पर तत्त्वमीमांसा का अधिभार भी बढ़ता गया। ध्यातव्य है कि सांख्य दर्शन से लेकर नव्यन्याय पर्यन्त 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के प्रति एक आम सहमति बनी रही, लेकिन इस अभ्युपगम पर बढ़ते हुए तत्त्वमीमांसीय अधिभार की समीक्षा नहीं की गई। इस लम्बे अन्तराल में नागार्जुन, जयराशि भट्ट एवं श्रीहर्ष प्रभृति दार्शनिकों के द्वारा इस अभ्युपगम का प्रबल विरोध भी हुआ, परन्तु 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के समर्थकों पर इसका कोई विशेष प्रभाव पड़ा हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता जबकि यह है कि नागार्जुन, जयराशि एवं श्रीहर्ष का विरोध और उनकी खण्डनात्मक युक्तियाँ सन्देहवाद से भी ज़्यादा विस्थापक प्रकृति की रही हैं। अतएव 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के अभ्युपगम पर उपर्युक्त दृष्टि से पुनर्विचार किया जाना आवश्यक हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रकृत समस्या पर बहुत व्यापक तौर पर विचार करना सम्भव नहीं है। इस निबन्ध के माध्यम से हम सांख्यसम्मत 'प्रमेयसिद्धिः' की अवधारणा पर युक्तिदीपिकाकार की व्याख्या को सामने रख कर कुछ विचार करने का प्रयत्न करेंगे। इसी विषयक सांख्यीय दृष्टिकोण अत्यन्त मौलिक एवं व्यापक रहा है, लेकिन व्याख्याओं की विभ्रमकारी बहुलता में यह ओझल जैसा हो गया है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर तत्त्वमीमांसीय अधिभार प्रायशः शब्द-प्रमाण के माध्यम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से आता है, जब हम प्रत्यक्षादि आनुभविक प्रमाणों एवं शब्दप्रमाण में कोटि-भेद को स्वीकार कर लेते हैं। सांख्य दर्शन की विशिष्टता यह है कि यहाँ उपर्युक्त प्रकार के भेद को स्वीकार नहीं किया गया है। चित्तवृत्ति हुए बिना कोई भी प्रमाण 'प्रमाण' नहीं हो सकता। अतएव प्रत्यक्ष, अनुमान और यहाँ तक कि आर्ष प्रमाण भी चित्तवृत्ति रूप ही हैं। ऐसे सभी प्रमाणों में चित्तवृत्ति के सत्वोत्कर्ष-अपकर्ष की दृष्टि से भेद किया जा सकता है, लेकिन यह भेद उस प्रकार के कोटिभेद को प्रस्तावित नहीं करता जैसा कि सांख्येतर दर्शनों में प्रत्यक्षादि आनुभविक प्रमाणों एवं शब्द-श्रुत्यादि प्रमाणों के बीच किया गया है। इस दृष्टि से सांख्यीय अभिमत में अपौरुषेय श्रुति अथवा प्रकाशित श्रुति के लिए कोई स्थान नहीं बनता और सम्भवत: शंकराचार्य ने इसीलिए सांख्यवादियों की आलोचना 'अशाब्दिक' कह कर की है। फिर भी 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' की आद्यन्त अन्विति के लिए सांख्य दर्शन की ऐसी दृष्टि एक मौलिक उपपत्ति को प्रस्तावित करती है।

II

सांख्य दर्शन मूलत: प्रमेय-परायण शास्त्र है, फिर भी प्रमाणों की प्रस्थिति एवं भूमिका को अत्यन्त व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रदर्शित करने वाला सर्वाधिक प्राचीन एवं स्पष्ट वचन हमें सांख्य-परम्परा में ही मिलता है। सांख्यकारिका[1] के चतुर्थ श्लोक में कहा गया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आप्तवचन में ही सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाने से सांख्य दर्शन में तीन ही प्रमाण मान्य हैं जिनसे प्रमेयों की सिद्धि होती है। इस सम्पूर्ण कारिका में 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट पद है। यह महत्त्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि इसका निर्धारण हो जाने के पश्चात् ही प्रमाणों के स्वरूप, विषय एवं विनियोग का विचार प्रासंगिक है। वास्तव में साधनों की प्रवृत्ति साध्योन्मुख ही हुआ करती है। दूसरे, यह विशिष्ट इसलिए है क्योंकि कारिकोक्त प्रमेय पारिभाषिक हैं, जिनकी सिद्धि प्रमाणों से विवक्षित है। यद्यपि कारिका में प्रमेयों का उल्लेख नहीं किया गया है तथापि इतना तो कहा जा ही सकता है कि सभी दर्शनों के अपने-अपने प्रमेय हैं जिनकी सिद्धि तत्तद् प्रमाणों से होती है।

युक्तिदीपिकाकार 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार व्रीही आदि प्रमेय प्रस्थ आदि प्रमाण से परिच्छेदित होते हैं उसी प्रकार 'व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ' रूप प्रमेय प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जाने जाते हैं।[2] सांख्य दर्शन में 'बुद्धि' ही एकमात्र प्रमाण है और उसी के उपाधि-भेद से प्रमाणों के प्रकार-भेद को स्वीकार किया गया है।[3] परन्तु यहाँ अवधेय है कि बुद्धि-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उपाधि-भेद से जो प्रमाणों का भेद है उसका आश्रय न लेकर केवल 'प्रमेयपरिच्छेदकत्वसामान्य' को अपनाते हुए 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' का निर्देश किया गया है। यदि उपाधिकृत प्रमाण-भेद का आश्रय लेकर 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' कहा जाता तो प्रमाणभेदपूर्वक प्रमेयभेद होता और पुनः उन्हीं प्रमाणों से प्रमेयसिद्धि होती। ऐसी मान्यता को सांख्यीय वस्तुवाद से संगत नहीं कहा जा सकता था। किसी भी वस्तुवादी दर्शन की ज्ञानमीमांसा में प्रमाण सर्जक नहीं अपितु ज्ञापक अथवा परिच्छेदक की भूमिका का ही निर्वाह करते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा ही था तो सूत्र में 'प्रमाणात्' कहने से ही काम चल जाता, 'प्रमाणाद्धि' (प्रमाणात् हि) कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। युक्तिदीपिकाकार इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सूत्र में 'हि' शब्द का अर्थ अवधारण-सूचक है। प्रस्तुत प्रसंग में अवधारणसूचक 'हि' शब्द को चार प्रकार से समझा जा सकता है—प्रथमतः, 'प्रमेयस्यैव सिद्धिः',[४] अर्थात् प्रमेय की ही सिद्धि होती है, ऐसा अवधारण हो सकता है। परन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि प्रमेय के अतिरिक्त किसी अप्रमेय की सिद्धि का न तो यहाँ प्रसंग है और न अप्रमेय की सिद्धि ही होती है। जहाँ व्यभिचार की सम्भावना होती है वहीं वस्तु का अवधारण किया जाता है, जैसे गौ ही है, अश्व नहीं है। प्रमाण के द्वारा अप्रमेय वस्तु के ज्ञेय होने का प्रश्न ही नहीं जिससे अप्रमेय की निवृत्ति के लिए 'प्रमेयस्यैव' ऐसा अवधारण किया जाय। अतएव सूत्र में प्रमेयस्यैव रूप अवधारण उचित नहीं।

द्वितीयतः, 'प्रमाणेभ्य एव', अर्थात् प्रमाणों से ही प्रमेय का अवबोध होगा, ऐसी अवधारणा की जा सकती है। परन्तु यह भी उचित नहीं, क्योंकि आर्ष ज्ञान के साथ इसका विरोध होने लगेगा। परमर्षि कपिल का ज्ञान साँसिद्धिक होने से प्रमाण के बिना ही सिद्ध माना जाता है। 'साँसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः'[५] ऐसा सांख्य वचन ही है। अतएव 'प्रमाणेभ्य एव' ऐसा अवधारणसूचक अर्थ लेने पर स्ववचन-विरोध की प्रसक्ति होगी।

तृतीयतः, यदि यह कहा जाय कि 'प्रमेयस्यैव तथा प्रमाणेभ्य एव'[६] दोनों का अवधारण 'हि' शब्द से विवक्षित है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उभय का अवधारण मानने पर उपर्युक्त दोनों पक्षों के दोषों की प्रसक्ति हो जायेगी।

चतुर्थतः, 'सिद्धिरेव'[७] अर्थात् प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि होगी ही, ऐसा अवधारण माना जा सकता है। परन्तु यह भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि इसमें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

व्यभिचार की सम्भावना है। उदाहरण के लिए कभी-कभी दिशाभ्रम की स्थिति में आदित्य आदि लिङ्ग के रहने पर भी दिशा का निर्धारण नहीं हो पाता है। अतएव 'सिद्धिरेव' रूप अवधारण व्यभिचार-दोष से ग्रसित है।

III

इस प्रकार कोई पूर्वपक्षी उपर्युक्त चारों विकल्पों में दोष दिखाते हुए प्रमाणपूर्वक प्रमेय-सिद्धि की अवधारणा की उपयुक्तता प्रदर्शित कर सकता है। इन विकल्पों की सांख्य-अभिमत से संगति बैठाते हुए युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि 'प्रमाणेभ्य एव', अर्थात् प्रमाणों से ही प्रमेय का अवबोध होगा, ऐसा मानने में कोई हानि नहीं है। जहाँ तक आर्ष ज्ञान से इसके विरोध का प्रश्न है, तो यह उचित नहीं, क्योंकि आर्ष ज्ञान तो स्वयंसिद्ध रूप होता है। जो वस्तु सिद्ध नहीं अपितु साध्यमान् कोटि की होती है उसे साधन-सम्बन्ध की आवश्यकता होती। भगवान् कपिल का ज्ञान तो स्वतःसिद्ध रूप है, अतः उसे अपनी उत्पत्ति के लिए प्रमाण रूप साधन-सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं। इसलिए 'प्रमाणेभ्य एव' ऐसा अवधारण स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। इसके अतिरिक्त 'सिद्धिरेव', अर्थात् प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि होगी ही, इस अवधारणा की संगति बैठाते हुए युक्तिदीपिकाकार का पक्ष यह है कि लोक में सत्वादि गुणों के अंग-अंगी भाव का कोई नियम नहीं है। तमोगुण के प्राबल्य की सामग्री उपलब्ध होने पर प्रमाणों का प्रमाजनकत्व दुर्बल हो जाता है। सत्व का प्रकर्ष प्रकाशरूप होने से वही प्रमाणभूत होता है। अतएव दिशाभ्रम की स्थिति में तमोगुण की प्राबल्यावस्था के कारण आदित्यादि लिंग प्रमाण ही नहीं बन पाते हैं, तो व्यभिचार का प्रश्न ही कहाँ उठता है?

इस प्रकार युक्तिदीपिकाकार अवधारणार्थक 'हि' शब्द की संगति अपने पक्ष में 'प्रमाणेभ्य एव' और 'सिद्धिरेव' रूप से बैठा लेते हैं, लेकिन 'प्रमाणेभ्य एव' का समाधान ग्रन्थकार ने जैसा किया है उस पर गम्भीरता से विचार करने पर कुछ महत्त्वपूर्ण बातें सामने आती हैं। इस अवधारणा के प्रति पूर्वपक्ष द्वारा प्रदर्शित विरोध का आशय वास्तव में यह है कि यदि प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि मानी जाय तो साँसिद्धिक ज्ञान यद्यपि करणोपकरणमूलक प्रमाण नहीं है फिर, भी उससे प्रमेयों की सिद्धि होती है। यहाँ तक कि सांख्योक्त सभी प्रमेय साँसिद्धिक रूप से उपदिष्ट कहे जा सकते हैं। इस विरोध के समाधान के लिए स्पष्टतया दो विकल्प हो सकते थे। पहला यह कि साँसिद्धिक ज्ञान अथवा आर्षविज्ञान भी करणोपकरणमूलक वैसे ही प्रमाण हैं जैसेकि प्रत्यक्षादि प्रमाण। उनमें भेद केवल उत्कर्षापकर्ष का है। दूसरे यह कि साँसिद्धिक ज्ञान अथवा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आर्षविज्ञान अपने स्वरूप में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अतिक्रामी कोटि का ज्ञान है। युक्तिदीपिकाकार वस्तुतः इस दूसरे विकल्प को अपना कर ही पूर्वपक्षी द्वारा उत्थापित विरोध का समाधान प्रस्तुत करते हैं। चूँकि सांसिद्धिक ज्ञान अतिक्रामी कोटि का ज्ञान है इसलिए उसे सन्दर्भ बनाकर यह नहीं कहा जा सकता कि प्रमाणों के बिना भी प्रमेय की सिद्धि होती है। जो जिस कोटि का नहीं है उसे उस कोटि में रखना और विरोध प्रदर्शित करना एक प्रकार का कोटिभ्रम है। अतएव यह कहा जा सकता है कि युक्तिदीपिकाकार ने 'प्रमाणेभ्य एव' रूप अवधारण की संगति को प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों की दृष्टि से प्रस्तावित किया है। यह बात वाचस्पति मिश्र की व्याख्या से भी समर्थित होती है। उनका मानना है कि 'एतच्चलौकिकप्रमाणाभिप्रायम्'[८] अर्थात् साधारण जनों के लिए जो लोक-प्रसिद्ध प्रमाण हैं वे ही कारिका में अभिमत किये गये हैं, क्योंकि साधारण जनों को समझाना ही शास्त्र का प्रयोजन है। यही कारण है कि ऊर्ध्व स्रोतों और आर्षविज्ञान रूप प्रमाणों का उल्लेख कारिका में नहीं किया गया है। ये प्रमाण उपलब्ध होते हुए भी साधारण जनों के अधिकार-क्षेत्र में नहीं आते हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य-परम्परा में ऊर्ध्वस्रोत ज्ञान, साँसिद्धिक ज्ञान एवं आर्षविज्ञान मान्य तो हैं फिर भी 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' की व्याख्या युक्तिदीपिकाकार एवं वाचस्पति मिश्र लौकिक प्रमाणों की दृष्टि से ही करते प्रतीत होते हैं। वस्तुतः ऐसी व्याख्या लौकिक प्रमाणों एवं अलौकिक प्रमाणों के मध्य एक खाई को उत्पन्न करती है जिसे सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में श्रुत्यादि उच्चस्तरीय प्रमाण और प्रत्यक्षादि आनुभविक प्रमाण के बीच निर्णायक रूप में देखा जा सकता है। इस बात की अवान्तर निष्पत्ति इस रूप में होती है कि श्रुत्यादि उच्चस्तरीय एवं गुह्य प्रमाणों के द्वारा प्रदत्त परिसीमा में ही आनुभविक प्रमाण क्रियाशील होने के लिए विवश हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वही प्रमेय परिच्छेद्य होते हैं जो प्रमेय श्रुत्यादि स्रोतों से प्रकाशित हुए रहते हैं। युक्तिदीपिकाकार जब 'कार्यकारण रूप चतुर्विध प्रकारों में पच्चीस तत्त्व प्रमेय रूप से परिगणित हुए' इसको प्रतिज्ञा सूत्र कहते हैं तो उससे भी ऐसा ही अभिप्राय प्रतीत होता है।

IV

एतद्विषयक कुछ आधुनिक व्याख्याकारों के विचार ऐसे हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि 'प्रमाणेभ्य एव' सम्बन्धी उपर्युक्त व्याख्या उचित नहीं बल्कि उसका प्रथम विकल्प ही अधिक सांख्यसम्मत है। प्रथम विकल्प यह कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से लेकर आर्षविज्ञान पर्यन्त सभी प्रमाण करणोपकरण की दृष्टि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से एक ही मूल के हैं। पं. रामशंकर भट्टाचार्य का मानना है कि ''मूल प्रकृति आदि पच्चीस पदार्थ जो पूर्वतन रूप से निर्णीत हैं वही सांख्योक्त प्रमेय हैं, जिनका निश्चय ज्ञान प्रमाणों से नहीं होता है। यह स्पष्टतया ज्ञातव्य है कि ये पच्चीस पदार्थ यौगिक चित्तस्थैर्य के द्वारा ही साक्षात्करणीय हैं। अत: प्रमाणों के लक्षणों की व्याख्या करते समय यह ध्यान देना होगा कि प्रमाणों के परिच्छेद्य विषय अतीन्द्रिय हैं। वाचस्पति मिश्र प्रभृति व्याख्याकार जो इन प्रमाणों को सर्वथा लौकिक मानकर, अर्थात् लौकिक प्रमा के ही साधक ये प्रमाण हैं ऐसा समझकर, उनकी व्याख्या करते हैं—वे भ्रान्त हैं। पच्चीस तत्त्वों (अतीन्द्रिय) के प्रतिपादक शास्त्र के अनुमत प्रमाण पाञ्चभौतिक क्षेत्रव्यापी हैं, अर्थात् कि ये पाञ्चभौतिक पदार्थ ही हैं जो लौकिक प्रमाणों से जाने जाते हैं, यह सोचना सर्वथा असंगत है।''[१०]

वस्तुत: कारिकोक्त प्रमाणों की व्याख्या यदि नितान्त लौकिक दृष्टि से की जाय तो सांख्यस्वीकृत पच्चीस तत्त्वों को उन लौकिक प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता है। हम लोगों के लौकिक प्रत्यक्ष की दृष्टि से पच्चीस तत्त्व अपने असंकीर्ण रूप में सर्वथा अतीन्द्रिय हैं। ये पदार्थ यौगिक शक्ति से सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा ही प्रत्यक्षगम्य हैं और उन्होंने ही इन विषयों को अनुमान से सिद्ध करने की पद्धति का प्रवर्तन किया है। हमारे व्यावहारिक जगत् में कितने ऐसे विषय हैं जो अतीन्द्रिय पदार्थों के लिङ्ग हैं, परन्तु व्याप्तिज्ञान न रहने पर उन पदार्थों का ज्ञाता व्यक्ति अतीन्द्रिय पदार्थों का आनुमानिक निश्चय नहीं कर सकता है। अनुमान करने के लिए व्याप्तिज्ञान एवं पक्षधर्मता का ज्ञान चाहिए। साधारण व्यक्ति का चित्त न अतीन्द्रिय पदार्थों को पक्ष बना सकता है और न ही अतीन्द्रिय पदार्थों की सत्ता के गमक जो लिङ्ग हैं उनका परिज्ञान कर सकता है। लिङ्ग रहने पर भी उसे लिङ्ग के रूप में जानने के लिए चित्त में अपेक्षित सत्वोत्कर्ष चाहिए। सांख्यसम्मत पच्चीस तत्त्वों में प्रकृति (साम्यावस्था) चित्तेन्द्रिय का संवेद्य विषय नहीं हो सकती। उसी प्रकार पुरुष भी बुद्धि द्वारा संवेद्य नहीं है। महत् से लेकर पंचमहाभूत पर्यन्त तेईस विकारी तत्त्व भी अपने असंकीर्ण रूप में हम लोगों के सामान्य ज्ञान के द्वारा साक्षात्कृत नहीं किये जा सकते हैं। इसके लिए योगज सामर्थ्य अपेक्षित है। प्राय: भूत तत्त्व एवं भौतिक तत्त्वों को एक मानकर यह मान लिया जाता है कि भूत तत्त्व इन्द्रिय-संवेद्य हैं जबकि वास्तविकता यह है कि भूत तत्त्व अपने वास्तविक असंकीर्ण रूप में अति सूक्ष्म हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु इत्यादि का ज्ञान संकीर्ण रूप से होता तो है परन्तु क्या हमें अपने लौकिक संज्ञान में कभी भी शुद्ध पृथ्वी, या केवल जल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तत्त्व नितान्त असंकीर्ण रूप में उपलब्ध हो सकता है?[११] यदि कोई यह कहे कि यावत् वस्तुएँ, जो हमारे लौकिक ज्ञान की विषय होती हैं, सभी चौबीस तत्त्वों से ही निर्मित्त होने के कारण प्रमेय ही हैं, तो हमारे विचार से इन्हें गौण अर्थ में ही प्रमेय कहा जा सकता है। मुख्य प्रमेय तो पच्चीस तत्त्व अपने असंकीर्ण रूप में ही हैं। सांख्य-परम्परा में जब यह स्वीकार किया जाता है कि सभी गुण-विकार साक्षात्कार-योग्य हैं तो यहाँ साक्षात्करी ज्ञान से अस्मदादि का लौकिक प्रत्यक्ष नहीं लिया जाना चाहिए। इस प्रकार 'त्रिविधंप्रमाणमिष्टं' की व्याख्या लौकिक प्रमाणों की परिसीमा में करते हुए 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' को प्रतिपादित करना सर्वतोभावेन उचित नहीं है। इसके लिए लौकिकता को एक व्यापक सांख्यीय परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। यहाँ हम वाचस्पति मिश्र के साथ युक्तिदीपिकाकार को भी समेटते हुए पं. रामशंकर भट्टाचार्य की इस टिप्पणी (कटु टिप्पणी) से सर्वथा सहमत हो सकते हैं कि "वाचस्पतिमिश्र का यह कहना कि आर्षविज्ञान का उल्लेख कारिका में नहीं किया गया है, एक असांख्यीय एवं अगम्भीर धारणा मात्र है। कारिका में ऐसा कोई संकेत भी नहीं जिससे यह निश्चित हो सके कि दृष्ट प्रमाणों में आर्षविज्ञान नहीं आता, जब तक कि निषेध-ज्ञापक कोई हेतु न मिले।"[१२] युक्तिदीपिकाकार भी प्रथमतया वाचस्पति सदृश व्याख्या करते हुए प्रतीत होते हैं, लेकिन बहुत दूर तक विचार करने के पश्चात् (सुदूरमपिगत्वा) धीरे से योगियों के प्रातिभज्ञान को दृष्ट प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार कर लेते हैं।[१३] यदि ऐसा ही है तो लौकिक एवं अलौकिक प्रमाणों में कोटि-भेद के साथ सब एक ही मूल के, अर्थात् चित्तवृत्ति रूप ही हैं—यह व्याख्या सांख्य-सिद्धान्त को व्यापकतर आधार प्रदान कर सकती है।

V

वस्तुतः 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के सम्बन्ध में सांख्यीय दृष्टि अपेक्षाकृत एक व्यापक अवधारणा को प्रस्तावित करती है। गुणत्रय-पुरुषसत्कार्यवाद में चित्तवृत्ति रूप प्रमाणवृत्तिता की व्यवस्था सभी प्रकार के जीवों के लिए है। न्यायभाष्यकार[१४] वात्स्यायन भी 'सोऽयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वात्' कहते हुए कुछ ऐसा ही संकेत कर जाते हैं। यह बात अलग है कि सब प्राणियों की अपनी अलग-अलग स्थिति है और इस स्थिति-भेद से प्रमाणों के भी स्थूल-सूक्ष्मभेद होते हैं। हम लोग मनुष्य की प्रमाणवृत्ति पर अधिक विचार करते हैं, लेकिन इस त्रिगुणात्मक सृष्टि में यह नहीं कहा जा सकता कि पशु इत्यादि में प्रमाण वृत्तिता नहीं होती। सभी प्रकार के प्राणियों में ये प्रमाण किस रूप से होते हैं यह जो जानता है वही प्रमाणों का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तत्त्ववेत्ता है।[१५] पुरुष के साक्षित्व में कार्य-देह और कारणेन्द्रियों की उत्पत्ति के साथ ही प्रमाणवृत्ति का समारम्भ इस त्रिगुणात्मक सृष्टि में हो जाता है। अतएव 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' विषयक सांख्यीय दृष्टि में प्रमाणों को लौकिक और अलौकिक रूप में विभाजित करना उचित नहीं है। यौगिक और साँसिद्धिक ज्ञान भी लौकिक ही हैं। हम लोक का अर्थ संकुचित कर उसे अलौकिक कह देते हैं। इसे सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। दृष्ट प्रमाण जिस प्रकार एक चित्तवृत्ति है उसी प्रकार आर्षविज्ञान भी एक प्रकार की चित्तवृत्ति ही है। दोनों में केवल सत्वोत्कर्ष का ही भेद स्वीकार्य है। सांख्यीय दृष्टि में साधारण मनुष्य से लेकर प्रजापति हिरण्यगर्भ तथा योगियों की अध्यवसायात्मक प्रमाणवृत्ति तक में स्वगत गुणों के उत्कर्ष-अपकर्ष का ही तारतम्य है। उनके करण और शक्तियाँ अलौकिक नहीं, लौकिक ही हैं। लौकिकता की व्याप्ति त्रिगुणात्मक सत्यलोक पर्यन्त है। कोई भी व्यक्ति अपनी बुद्धिगत सामर्थ्य का उत्कर्ष करके उन सभी तत्त्वों का साक्षात्कार कर सकता है जिसे वाचस्पति मिश्र अलौकिक (आर्षविज्ञान) कहते हुए हमारे अधिकार-क्षेत्र से सर्वथा बहिर्भूत कर देते हैं। इस प्रकार प्रमाणवृत्तिता में प्रकर्षापकर्ष का भेद एक व्यापक ज्ञानमीमांसीय दृष्टि है। सांख्य दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन नामक त्रिविध प्रमाणों की व्यवस्था इसी दृष्टि से की गई है। वस्तुतः सांख्यीय दृष्टि से कोई ऐसा प्रमेय पदार्थ नहीं जो प्रत्यक्ष अथवा अनुमानगम्य न हो। आप्त प्रमाण के मूल में भी प्रत्यक्ष और अनुमान-प्रमाण ही होता है। अस्तु, यह सिद्ध हुआ कि प्रमाणों से ही प्रमेय का अवबोध होगा। जो कुछ प्रमाण से परिच्छेद्य नहीं वह सांख्यीय दृष्टि से असत् है।

सन्दर्भ

* सांख्य दर्शन युक्तिदीपिका पर आई.सी.पी.आर. द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी, दर्शन-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में प्रस्तुत। २४-२६ फरवरी, २००१

१. ईश्वरकृष्णकृत साँ.कार., 4. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्। त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि॥

२. युक्तिदीपिका, हिन्दी अनु., केदारनाथ त्रिपाठी, पृ. १०० व्रीह्यादिवत्—व्यक्तादि प्रमेयं प्रत्यक्षादि प्रमाणेन परिच्छिद्यत इति।

३. वही, पृ. १००—प्रमेयपरिच्छेदकत्वसामान्य अङ्गीकृत्यैकवचन निर्देशः क्रियते प्रमाणादिति।

४. वही, पृ. १०१—प्रमेयस्यैवेति चेत् न अन्यस्यासम्भवात्।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

५. ईश्वरकृष्ण, साँ.का., 43 - संसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतका वैकृताश्च धर्माद्याः। दृष्टाः कारणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः।

६. युक्तिदीपिका, वही, पृ. १०१—उभयावधारणमिति चेन्न उभयदोष प्रसंगात्।

७. वही, पृ. १०१—सिद्धिरेवेति चेत् न अनेकान्तात्।

८. सांख्यतत्त्वकौमुदी, 4. एतच्च लौकिकप्रमाणाभिप्रायम्, लोकव्युत्पादनार्थत्वाच्छास्त्रस्य, तस्यैवानधिकारात्। आर्षं तु विज्ञानं योगिनामूर्ध्वस्रोतसाँ च न लोकव्युत्पादनायालम्, इति सदपि नाऽभिहितं, अनधिकारात्।

९. युक्तिदीपिका, वही, पृ. ९९—इति चतुर्विधं कार्यकारणवृत्तं प्रतिपादितम्। एतत् प्रतिज्ञापिण्डसूत्रम्। अत्र यदपदिष्टं भवदभिरस्मिन् प्रमेयमित्यवगन्तव्यम्।

१०. तत्त्वकौमुदीभाषाटीकया ज्योतिष्मती व्याख्यया चान्विता, पृ. ३६, मोतीलाल, १९६७

११. द्रष्टव्य—रामशंकर भट्टाचार्य का निबन्ध—'पंचमहाभूत - स्वरूप, उत्पत्ति तथा साक्षात्कार'—दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष १, अंक ४, १९५५

१२. सांख्यतत्त्वकौमुदी—रामशंकर भट्टाचार्य, पृ. ३६, मोतीलाल, १९६७

१३. युक्तिदीपिका, वही, पृ. १३२—द्वितीयेनान्तरङ्गस्य प्रातिभस्येति रागादि विषयं योगिनां च यद्विज्ञानं तत् संगृहीतं भवतीति व्याख्यातं प्रत्यक्षम्।

१४. न्यायभाष्य, अनुबन्ध चतुष्टय, १-२.

१५. सांख्यतत्त्वकौमुद्री—ज्योतिष्मती व्याख्या—रामशंकर भट्टाचार्य, पृ. ३६

दर्शन विभाग,

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,

सागर - ४७० ००३

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पाण्डे की तत्त्व-दृष्टि

यशदेव शल्य

पाण्डे जी का सृजन-कर्म अनेक आयामात्मक है—वे कवि हैं, दार्शनिक हैं और इतिहासकार हैं, और तीनों आयामों में उनका सृजन-कर्म अनेक सरणियों में प्रवाहित हुआ है। उदाहरण के लिए उन्होंने काव्य-सृजन ही नहीं किया है, अंग्रेज़ी से कविताओं का संस्कृत में और प्राकृत भाषा की कविताओं का हिन्दी में काव्यात्मक अनुवाद भी किया है। इसी प्रकार, दर्शन में केवल मौलिक चिन्तन ही नहीं किया है, बहुत से प्राचीन भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों और दार्शनिकों पर व्याख्यात्मक लेखन भी किया है और अनेक ग्रन्थों के संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद भी किये हैं। इतिहासकार के रूप में उन्होंने इतिहास-लेखन राजाओं की विजयों-पराजयों की कथाओं के रूप में नहीं कर वैचारिक विकास-परम्परा के रूप में किया है। इस क्रम में उनका नवीनतम बृहद् ग्रन्थ वैदिक संस्कृति है जिसमें उन्होंने वैदिक जीवन और चिन्तन का विस्तार और गहराई से अवगाहन किया है। १९६३ में प्रकाशित उनका बृहद् ग्रन्थ **बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास** एक अद्भुत रचना है। अद्भुत इस अर्थ में भी कि उसमें अत्यन्त विशाल बौद्ध साहित्य का अत्यन्त गहन और सार-ग्राही विवरण दिया गया है और इस अर्थ में भी कि उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण बौद्ध दार्शनिक कृतियों का हिन्दी में जैसा प्रामाणिक और सम्यक् अनुवाद प्रस्तुत किया गया है वैसा अन्यत्र अलभ्य है।

इतिहास-लेखन के सम्बन्ध में यह एक सर्वस्वीकृत बात है कि यह जितना वस्तुपरक होता है उससे कहीं अधिक कल्पना-परक होता है। इतिहास-लेखम में वास्तव में तथ्य लेखक की अर्थ-गवेषी कल्पना के लिए संकेत बनते हैं। किन्तु विचार का इतिहास लिखने में तो तथ्य भी विचार ही होते हैं। उनका इतिहासकार उतना ही सफल कहा जा सकता है जितना वह उस सत्य को गहराई और व्यापकता में देख पाता है जिसे अतीत विचारकों ने काल-क्रम में देखने का प्रयत्न किया होता है। इस प्रकार वैचारिक इतिहास-लेखन और कुछ नहीं होता सिवाय विशाल विचार-परम्परा में सहभाग लेने और उसका अवगाहन करने के। पांडे जी की पुस्तकें—**बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, ऑरिजिन्स् ऑफ बुद्धिज्म, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, फाउण्डेशन्स् ऑफ**

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इण्डियन कल्चर, भारतीय समाज, लाइफ एण्ड थॉट ऑफ शंकराचार्य, शंकराचार्य, स्टडीज़ इन महायान, जैन पॉलिटी, वैदिक संस्कृति आदि ग्रन्थ और अनेक लेख इसी प्रकार की रचनायें हैं।

किन्तु पाण्डे जी की सृजनात्मक प्रतिभा इतने मात्र से सन्तुष्ट होने वाली नहीं है, यद्यपि वैचारिक इतिहास के इस अवगाहन में सृजनात्मक कल्पना के लिए कम अवकाश नहीं होता। भारतीय परम्परा के मूल स्वर और भारतीय समाज जैसे ग्रन्थों के सम्बन्ध में तो यह कहना भी कठिन है कि इन्हें उनकी मौलिक चिन्तनपरक रचनाएँ कहा जाय या कि इतिहासपरक! वास्तव में ये प्रथम श्रेणी में अधिक आती हैं, द्वितीय में कम। किन्तु विचारक के रूप में पांडे जी में एक साथ दो व्यक्तित्वों का सहवास है और दोनों ही व्यक्तित्व समान रूप से महिम हैं। अन्यथा क्या कोई उपर्युक्त वैदुष्य में परमोत्कृष्ट ग्रन्थों के रचयिता से कवि होने की, और वह भी प्रथम श्रेणी का, कल्पना भी कर सकता है?[१] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाण्डे जी के औपचारिक रूप से विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग से जुड़े होने के कारण और इतिहास में भी उनका योगदान बहुत उत्कृष्ट और बृहत् होने के कारण दर्शन-क्षेत्र के कुछ प्रमुख विचारकों को छोड़कर शेष लोग उन्हें दार्शनिक के रूप में नहीं देखते जैसे कि उनके पाँच उत्कृष्ट कविता-संग्रह होने पर भी साहित्यिक लोग उन्हें दार्शनिक चिन्तक और दार्शनिक पण्डित के रूप में ही देखते हैं, हिन्दी कवियों में उन्हें नहीं गिनते। इतिहास के क्षेत्र में उनकी स्थिति और भी असमंजस है—इस क्षेत्र के प्रायः सब लोग उनके मुख्यतः वैचारिक इतिहासकार होने से और दार्शनिक होने से उन्हें दार्शनिक ही मानते हैं, इतिहासकार नहीं मानते। इस प्रकार जबकि वे इन तीनों क्षेत्रों में उच्चतम पद पर प्रतिष्ठापनीय हैं, तीनों क्षेत्रों के लोग उन्हें प्रथमतः अपने से दूसरे क्षेत्र का मानते हैं और केवल गौणतः ही अपने क्षेत्र का मानते हैं। किन्तु तब भी इन तीनों क्षेत्रों के विशिष्ट लोग, विशेषतः वे लोग जो उन्हें कुछ निकटता से जानते हैं, उन्हें तीनों क्षेत्रों में उत्कृष्टतम परिगणित करने में संकोच नहीं करते। मेरा यह सौभाग्य है कि मैं उनकी प्रतिभा के कम से कम दो आयामों—दर्शन और काव्य—से गहराई से परिचित हूँ और उन के इस दोनों प्रकार के कृतित्व पर मैंने कुछ लिखा है।[२] यहाँ मैं उनकी तत्त्व-मीमांसीय दृष्टि को उनके दार्शनिक लेखन की समग्रता में लेते हुए प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा।

पांडे जी का सृजनात्मक दार्शनिक चिन्तन निम्न ग्रन्थों में निबद्ध है—मूल्य-मीमांसा, मीनिंग एण्ड प्रॉसेस ऑफ कल्चर, भक्तिदर्शन विमर्शः और सौन्दर्यदर्शन-विमर्शः। इनके अतिरिक्त बहुत से लेख। अपोहसिद्धि और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न्यायबिन्दु की विस्तृत भूमिकाओं को भी इस वर्ग में रखा जा सकता है, यद्यपि उन्हें व्याख्यात्मक दार्शनिक कृतियों में रखना अधिक समीचीन होगा।

पांडे जी के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त को आसानी से यथार्थवाद या आदर्शवाद, प्रत्यवाद या चिदद्वयवाद के अन्तर्गत परिगणित नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि यद्यपि वे चिदद्वयवादी हैं, किन्तु वे आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन से भी गहराई से परिचित हैं और उसका अपने चिन्तन में, यद्यपि अधिकांशतः पूर्वपक्ष के रूप में ही, आकलन करके चलते हैं। उदाहरणतः निम्न उद्धरण देखें—"चेतन सत्ता में वास्तविकता और मूल्यवत्ता का अन्वय व्यापक रूप से पाया जाता है। यदि इस तथ्य के साथ इस पर विचार करें कि विकास का क्रम सत् को जड़ता से अधिकाधिक उत्कृष्ट चैतन्य की ओर ले जाता प्रतीत होता है तो यह कल्पना संगत प्रतीत होगी कि वास्तविकता और मूल्यवत्ता दोनों ही सत् के अन्तर्निहित आयाम हैं। प्रतीयमान अर्थ में मूल्य का स्फुरण चेतना को अपनी ओर प्रवृत्त करता है और प्रवृत्ति में साधक-बाधक के रूप में अर्थ के वस्तु-पक्ष का बोध होता है।"[3]

यह उद्धरण अत्यधिक अर्थ-गर्भ है और यह अर्थ बहुत व्यापक है। इसके अनुसार जड़ और चेतन दो पृथक् तत्त्व नहीं हैं, न ये एक-दूसरे में अन्तर्भाव्य और इस प्रकार अपृथक् ही हैं, न यही है कि चेतन जड़ का विकार है या जड़ में से नव्योत्क्रमित (इमर्जेन्ट) है। दूसरी ओर, ऐसा भी नहीं है कि जड़ चेतना का आक्षेप या उसकी कल्पना मात्र है, जैसा वसुबन्धु या बर्कले कहते हैं। बल्कि, जड़ और चेतन दोनों एक ही सत् के अवर और वर स्तर हैं अवर स्तर उसका जाड्य और वर स्तर चेतना है। फिर चेतना में भी वरता के अनेक स्तर हैं, जो विकास-क्रम में प्रकट होते हैं। यह विकास सत् में मूल्यानुसन्धित्सा को स्वरूपगत प्रकट करता है। अपने स्वरूप को पाने की उद्विग्नता जड़ से चेतना के स्तर पर और चेतना के ऐन्द्रिक स्तर से मनोमय, विज्ञानमय तथा अन्य ऊर्ध्वतर स्तरों पर उत्क्रमण की हेतु बनती है। अब, मूल्य और तथ्य या वस्तु क्या है? प्रवृत्ति की आत्मोन्मुख दिशा मूल्य का बोध देती है और बाह्योन्मुख दिशा वस्तु का। यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि इस प्रतिपादन में एक निहित चेतनाद्वयवाद है, क्योंकि यहाँ वस्तु को प्रवृत्ति के अन्तर्गत अर्थ के रूप में देखा गया है और प्रवृत्ति चेतना का एक रूप ही है। किन्तु यह आक्षेप वस्तुमूलक धारणा पर प्रतिष्ठित है जो 'होने' को 'वस्तु रूप में होना' ही समझ सकती है और इस प्रकार जिसके लिए या तो जड़ और चेतन दो वस्तुएँ हैं या इनमें से एक वस्तु है और दूसरा उसका विकार है। किन्तु पांडे जी इस पदावली में विचार नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कर रहे हैं, उनकी दृष्टि अधिक सूक्ष्म और मूलगामी है। उदाहरणतः ज्ञान और उसके विषय के सम्बन्ध में उनका प्रतिपादन देखें—

"ज्ञान की खोज का मुख्य लक्ष्य उसकी प्रामाणिकता न होकर उसका विषय होता है। इस अनुसंधान में प्रामाणिकता की खोज आनुषंगिक रूप से होती है। ... ..विश्वास के मूलाधार ही प्रमाण कहलाते हैं। ... ..वस्तुतः ज्ञान मात्र में एक नित्य साक्षिभाव विद्यमान रहता है। किन्तु अपनी उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति की विशेषता के अनुसार उसका विषय-सम्बन्ध विभिन्न प्रकार से होता है और यही प्रमाण-वैविध का कारण होता है। इन्द्रियों और मन के व्यापार से व्यक्त ज्ञान देश-कालोचित स्फुट प्रतिभास होता है, मन और बुद्धि के व्यापार से व्यक्त होने पर परिच्छिन्न अध्यवसाय होता है, शुद्ध बुद्धि मात्र से व्यक्त होने पर प्रज्ञात्मक होता है, केवल अपने आप में स्वप्रकाश मात्र होता है। ज्ञान की ये चार श्रेणियाँ विषय-ग्रहण, विषय-निर्धारण, विषय-साक्षात्कार और आत्मसाक्षात्कार कही जा सकती हैं। ... ..प्रामाणिकता ज्ञान को अलग मूल्य नहीं देती बल्कि ज्ञान को उसके व्यापारात्मक मूल्य के योग्य बनाती है। ... ..व्यापारात्मक ज्ञान का मूल्य किस बात में मानना चाहिए? ज्ञान विषय का तटस्थ प्रदर्शन करता है और उसके मूल्य से स्वयं उपरक्त नहीं होता। जल के 'वाक्य-ज्ञान' से प्यास नहीं बुझती न अच्छाई-बुराई के ज्ञान में अच्छाई-बुराई होती है। ... ..फलतः ज्ञान न केवल व्यवहार का साधक और साधना का अनुग्राहक है और इस प्रकार परम्परया मूल्यान्वित है अपितु स्वयं एक अनन्त साधनात्मक मूल्य है। ... ..ज्ञान को जब मानव-स्वरूप का विशेष और उत्कृष्ट गुण कहा जाता है तो ज्ञान का अर्थ न ऐन्द्रिय संवेदन है, न इन्द्रिय-संवेद्य प्राकृतिक वस्तुओं का बुद्धि-विकल्पात्मक ज्ञान है। उसका अर्थ तत्त्वों और आदर्शों का विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान है। इस प्रकार का ज्ञान संवेदन पर अनाश्रित, बुद्धि की स्वाधीनता की अभिव्यक्ति, दर्शन-पर्यवसायी और नित्य-तत्त्व विषयक होता है। जहाँ संवेदन अनित्य अर्थों का होता है अतीन्द्रिय बुद्धि-ज्ञान उन अर्थों के नियामक तत्त्वों का होता है।"[४] इस उद्धरण से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि पांडे जी सत् को दर्शन की प्रचलित कोटियों—भौतिक और चेतन, या इनमें से एक—के रूप में नहीं देख रहे हैं। तब यहाँ प्रश्न हो सकता है कि, तो वे इसे किस रूप में देखते हैं? इसके उत्तर के लिए इस उद्धरण को ध्यान से समझने की आवश्यकता है। वे ज्ञान के करण इन्द्रिय, मन और बुद्धि को कहते हैं और आत्मतादात्म्य को भी ज्ञान ही कहते हैं जो स्पष्टतः करणोपकरणात्मक नहीं हो सकता। ज्ञान के इन चार रूपों के अनुरूप वे इनके विषय भी चार कहते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हैं। अब, ये चार विषय मौलिक रूप से परस्पर भिन्न होते हैं, जो कि उनके द्वारा उन ज्ञानों की प्रमाण-व्यवस्था को परस्पर भिन्न कहने से स्पष्ट है। इस प्रकार इन्द्रिय-विषय विकल्प-विषय नहीं हो सकते और ये दोनों प्रज्ञा के विषय नहीं हो सकते और ये तीनों आत्मतादात्म्यपरक ज्ञान के विषय नहीं हो सकते। पांडे जी के शब्दों में, जबकि संवेदन अनित्य अर्थों का होता है, अतीन्द्रिय बुद्धि-ज्ञान उन अर्थों के नियामक तत्त्वों का होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्ञान के ये दो विषय परस्पर पूर्णतः भिन्न हैं। प्रथम अर्थ-क्रिया-समर्थ है, जैसे जल प्यास बुझाने में और दूसरा वह नियम या तत्त्व जो इस अर्थ के जल होने का हेतु या विधायक है। यहाँ पूछा जा सकता है कि ये विषय क्या विषयतया ही भिन्न हैं या कि सत्तया भी भिन्न हैं? क्योंकि जबकि जल की अर्थता या वस्तुता और इस प्रकार सत्ता-सम्बन्ध स्पष्ट है, उसके जलत्व-विधायक नियम का कोई सत्ता-सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है, यह केवल विकल्पात्मक और इस प्रकार असत् ही प्रतीत होता है। किन्तु यदि ऐसी बात हो तो बुद्धि को ज्ञान का करण नहीं कहा जायेगा, केवल इन्द्रिय को ही कहा जायेगा। वास्तव में अधिकांशतः दार्शनिकों द्वारा ऐसा ही माना जाता भी रहा है। अधिकांश दार्शनिकों, विशेषतः वेदान्तियों और बौद्धों द्वारा निर्विकल्पक को अभ्रान्त ज्ञान और विकल्प को अनादि वासनामूलक या वस्तु पर चेतना की अतिक्रामी वृत्ति का आरोप कहा गया है। किन्तु उपर्युक्त उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है जैसे पांडे जी ऐसा नहीं मानते, वे इन्द्रियों के समान ही मन और बुद्धि को भी ज्ञान के करण मानते हैं और आत्मतादात्म्य को भी ज्ञान ही मानते हैं, और वास्तव में इन चारों को उत्तरोत्तर क्रम में प्रकृष्टतर ज्ञान मानते हैं। किन्तु यह प्रश्न पुनः प्रष्टव्य है कि इनके विषयों की भिन्नता ज्ञान-मूलक है या कि यह साथ ही सत्ता-मूलक भी है? यह एक नितान्त मूलगामी प्रश्न है। पांडे जी इसका उत्तर देते हैं कि 'सत्ता' को 'वस्तुता' से पृथक् करना आवश्यक है और तब कहा जा सकता है कि वस्तुता सत्ता की एक उपाधि मात्र है और इसी प्रकार अध्यवसाय और तत्त्व आदि भी उपाधियाँ ही हैं, सत्ता इन सब का एक और निरुपाधिक आधार है। इस आधार-सत् को पांडे जी चिदात्मक ही मानते हैं किन्तु यह चित् 'जड़ के विपरीत चेतन' या 'जड़ की विषय के रूप में अन्तर्निवेशिनी चेतना', 'विषयापेक्षी चेतना', या वसुबन्धु की विज्ञप्ति रूप नहीं है बल्कि इन सब आयामों को उपाधियों के रूप में धारण कर इनका अतिक्रमण करने वाली शुद्ध चेतना : चैतन्यः है। सत् के स्वरूप पर विचार करते हुए वे कहते हैं—"कुछ लोग यहाँ सन्देह करते हैं कि यह उत्कर्ष तो ज्ञान ही का होता है, केवल सम्भाव्य अर्थ का नहीं। चित्रकार की प्रतिभा,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अथवा गणितज्ञ का ज्ञान, अथवा प्रेयस् की प्रतिपत्ति ये सब ज्ञान रूप से ही साध्य का निर्देश करते हैं, अपने विषयों के स्वतन्त्र अर्थ का नहीं। प्रतिभा-विषय अथवा विकल्प-विषय किस प्रकार की वस्तुता का आश्रयण करते हैं इसे लेकर बहुत से परस्पर विरोधी मत हैं। बुद्धिगम्य तत्त्वों में सत् का उत्कर्ष होता हो या अपकर्ष, सत् के नियामक धर्म का बोध तो बुद्धि के द्वारा ही होता है। जैसे-जैसे ज्ञान सूक्ष्म होता जाता है उसी अनुपात में प्रत्यय और उसके विषय का भेद भी क्षीण से क्षीणतर होता जाता है। उसमें बुद्धि द्वारा निर्धार्य आकार ही ज्ञेय विषय के रूप में आगे आते हैं। वे ज्ञानमात्रनिष्ठ होते हुए आन्तर, अनान्तर अथवा अबाह्य किसी अभौतिक तत्त्व-लोक अथवा भाव-लोक में व्यवस्थित होते हैं या कि बाह्य तत्त्वों के संकेत मात्र होते हैं, यह निर्धारित करना दुस्साध्य है। किन्तु तब भी, तत्त्व बुद्धि के निकटवर्ती होते हैं यह बात तो विवादास्पद नहीं ही है। इस प्रकार कर्म के अंगभूत प्रत्यक्षगत बाह्यार्थ विषयों के जगत् को छोड़कर और बुद्धि में आरूढ़ होकर ही तत्त्वों का ज्ञान होता है, जिससे प्रत्यक्षगत जगत् का वस्तुत्व भी पुनर्व्याख्यायित और अधिक विशद रूप में अवगम्य बनता है। बुद्धि भी तत्त्व-सोपान का क्रमशः आरोहण करती हुई जो परम तत्त्व को अधिगत कर विश्राम-लाभ करती है वही सत् का परम रूप होता है, ऐसा समझना चाहिए। ... ..अपने विषय की अवधारणा में बुद्धि सर्वत्र ही उत्तरोत्तर स्वतन्त्र होती चलती है, वह प्रत्यक्ष-गोचर विषयों की अवहेलना करके भी प्रत्यक्ष द्वारा प्रदर्शित विषयों को लिपि के समान संकेत रूप में देखती हुई उसमें निगूढ़ पारमेश्वरी सत्ता को उद्घाटित करती है।''[५] यहाँ पुनः विषयों का सत्ता-सम्बन्ध अस्वीकृत नहीं है। किन्तु यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यह सत्ता किस प्रकार की है? भौतिक अथवा प्राकृतिक या कि चिदात्मक? सम्भवतः पांडे जी का उत्तर होगा कि यह सत्ता परमार्थतः चिदात्मक ही है—पारमेश्वरी, किन्तु इसमें भौतिक का वही स्थान है जो चैत्त का है, दोनों उसकी उपाधियाँ हैं। इन्द्रियों को वह सत्ता भौतिक उपाधि में गम्य होती है और अन्तःकरण तथा बुद्धि को चैत्त उपाधि में गम्य होती है। यह निम्न उद्धरण से देखा जा सकता है—

''यदि वस्तु-परिचय को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित माना जाय तो फिर वस्तु-निर्धारण आधिभौतिक जगत् के एक परोक्ष और सम्भावनात्मक विज्ञान के अतिरिक्त सम्भव नहीं है। किन्तु प्रत्यक्ष को करणोपकरण पूर्वक मानना प्रत्यक्ष के स्वरूप के ही विरुद्ध है। वस्तुतः प्रत्यक्ष आत्मानुभूति को ही मानना चाहिए। तत्त्व को भी कार्यानुमेय उपादान मानने पर वह तत्त्व न रह कर अन्यसम्बद्धत्व रह जाता है। वस्तुवैलक्षण्य के रूप में अवधारित तत्त्व विकल्प-पर्यवसायी रह जाता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है, क्योंकि लक्ष्य के बिना लक्षण का और लक्षण के बिना लक्ष्य का ज्ञान नहीं हो सकने से लक्षण संकेतमात्र और लक्ष्य बुद्धि-विकल्पमात्र सिद्ध होते हैं। अतएव तत्त्व को अपरोक्षानुभूति में प्रकाशित सत् नहीं कहा जा सकता। इस सत् के सम्प्रेषण के लिए शुद्ध बुद्धि तत् को नाना सांकेतिक तत्त्वों का रूप देती है।''[६]

अब, इसका क्या अर्थ है? अपरोक्षानुभूति क्या है? यह सविषया होती है या निर्विषया? सविषया होने पर यह बताना होगा कि इसका विषय अन्य विषयों से भिन्न किस प्रकार है और निर्विषया कहने पर यह बताना होगा कि यह अपरोक्ष किससे है? यह तो भावमात्रता ही कही जायेगी, 'होना मात्र'! किन्तु 'अपरोक्षता' में ऐसी इतरता पूर्वगृहीत प्रतीत होती है जिसके प्रत्यक्ष में व्यवधान निरस्त हो गए हों। ऐसी अपरोक्षता आत्मा से कही जाती है। शंकर और डेकार्ट ने आत्मा को ही ऐसा अपरोक्ष कहा है। किन्तु दोनों ने आत्मा की अपरोक्षता 'पूर्वगृहीतता' की युक्ति से सिद्ध की है—कि आत्मा में सन्देह में ही आत्मा पूर्वगृहीत रहती है। किन्तु यह आत्मा की अपरोक्षता नहीं है, जो अपरोक्षता केवल अनुभूति में ही सिद्ध होती है। इसमें ऐसा प्रकाश अपेक्षित है जिसमें आत्मा अपनी भावमात्रता में प्रकाशित होती है। वह तो शुद्ध बुद्धि ही है जो सांकेतिक रूपों के माध्यम से इसे ऐसे विषय रूप में जानती है जिसमें यह (आत्मा) अपने को जानने के लिए अपनी परोक्षता को कल्पित करती है। अवश्य ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष भी सत् का ही ग्राहक होता है, किन्तु यह शुद्ध बुद्धि के लिए संकेत बन कर ही ऐसा हो सकता है, स्वयं से नहीं। स्वयं से वह अध्यवसायात्मक बुद्धि के योग से आधिभौतिक जगत् का ध्यायी ही हो सकता है, जो जगत् नितान्त पर रूप में एश्य और अन्वेश्य होता है। इसे पांडे जी ने मूल्यों में भूमि-भेद के रूप में व्याख्यायित किया है। वे कहते हैं—''उदाहरण के लिए गन्ध और स्पर्श के भोग की तुलना में रूप और शब्द के उपादान से सृष्ट कला में सौन्दर्योपलब्धि मूल्य की अधिक अभिव्यक्ति करती है। ऐसे ही कला से अधिक योग-समाधि में सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति होती है। ... ..मूल्यों में भूमि-भेद मानने पर भी यह अभी निश्चेतव्य है कि भूमियों का औत्तराधर्य किस प्रकार निर्धारित होगा? किन लक्षणों से मूल्योत्कर्ष व्यक्त होगा? मूल्य के तीन पक्ष हैं—साध्य विषय, उसकी निरूपक चेतना और उस चेतना में अन्तर्निहित आत्म-बोध। ... ..आत्मा के लिए परम साध्य नित्यसिद्ध और उससे अभिन्न है, किन्तु अज्ञान के कारण नाना अनात्म उपाधियों में उसकी अधूरी सूचना मिलती है और मानव-साधना को जन्म देती है। ... ..मूल्य-बोध में चेतना के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चार पक्ष अलग किये जा सकते हैं—विषय-विकल्प, विषयाभिमुख्य या विषयाभिरुचि, दिये हुए विषय के द्वारा निरूपित अभिरुचि का विवेचन और चेतना का आत्मपरामर्श। विकल्प की अभ्रान्तता, गम्भीरता और व्यापकता, अभिरुचि की तीव्रता, स्थिरता, अक्लिष्टता, गम्भीरता, व्यापकता, अन्तर्विरोध-शून्यता, विवेक की गम्भीरता और सूक्ष्मता, एवं चेतना के आत्मपरामर्श की स्वस्थता, प्रांजलता, स्वप्रकाशता, सुखमयता, दुःखमुक्तता आदि मूल्य-चेतना के उत्कर्ष को ज्ञापित करने वाले लक्षण हैं। ... ..सामान्य बोध में आत्मा चित्तवृत्ति में और चित्तवृत्ति विषय में निमग्न रहती है। यह पराङ्मुखता ही अविद्या है और अनर्थ बोध को जन्म देती है। इसके विपरीत जहाँ तक विषय वृत्ति को प्रतिबिम्बित करता है और वृत्ति आत्मा को वहाँ तक प्रत्यङ्मुखता का जन्म होता है जो मूल्य-बोध को उपस्थित करती है।''[७] इस मूल्य-बोध की पराकाष्ठा आत्मतत्त्वबोध में होती है जहाँ बोध और भाव (होना) एक ही बात होते हैं। बोध और भाव के इस अभेद को सत् की पराकाष्ठा या परमता भी कहा जा सकता है।

X X X

पांडे जी की तत्त्व-मीमांसा को समझने के बाद उनके संस्कृति-दर्शन और कला-दर्शन का विवेचन सरल हो जाता है, क्योंकि ये उनके तत्त्व-दर्शन के तारतम्य में ही हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन दोनों क्षेत्रों में भी उनका योग-दान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

संस्कृति को पांडे जी इस प्रकार परिभाषित करते हैं—''संस्कृति का आविर्भाव व्यक्ति-चित्त में साक्षात्कारात्मक अर्थ (रेवेलेशन) के रूप में होता है और यह अर्थ सृजनात्मकतया प्रतीक के रूप में सामाजिक परम्परा में प्रवेश करता है। ... ..किसी संस्कृति को समझना ऐतिहासिक रूप से प्रदत्त प्रतीकों और अभिप्रायों के प्रसंग में मानव के आत्मचरितार्थन की आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को समझना होता है।''[८] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि पांडे जी संस्कृति को किसी समाज की आर्थिक, औद्योगिक या यंत्रपरक उपलब्धियों से परिभाष्य नहीं मानते, यहाँ तक कि वे उसे उसके राजनीतिक व्यवहार, कला-रचनाओं और धार्मिक अनुष्ठानों से भी परिभाष्य नहीं मानेंगे, वे इन सबको समाज के आत्मानुसन्धान के लक्षणों के रूप में ही देखेंगे। इस प्रकार, किसी समाज में विज्ञान का प्रामुख्य है या धार्मिकता की प्रधानता है या दार्शनिकता की, यह सब इस बात पर निर्भर करेगा कि वह समाज अपनी आत्मा का तादात्म्य किस में देखता है, किस सिद्धि को आत्मसिद्धि के रूप में देखता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वह विरोचन के समान देह को ही आत्मा देखता है या कि चित्त को, या कि इन्द्र के समान शुद्ध चैतन्य को! पांडे जी के शब्दों में—"तर्क किया गया है कि संस्कृति एक आकार या संस्थान रूप होती है और संस्कृति के सम्बन्ध में यह एक बहुत व्यापक मान्यता है। यदि संस्कृति विविध उद्योगों का संस्थान, या तकनीक-संस्थान या समाज-रचना नहीं है तो यह इन सब का और दूसरे कार्य-व्यवहार का समावेशी विशिष्ट प्रकार का सावयव गठन होता है।" किन्तु संस्कृति विषयक इस प्रकार के बाह्यात्मक विचारों और परिभाषाओं का निराकरण कर वे कहते हैं—"एकत्व (सावयवता) का मूल आत्मचेतना में होता है। जब हम किसी संस्कृति में किसी चित्र से या दार्शनिक रचना से प्रभावित होते हैं तब उसके आधार में वास्तव में हम उसके रचयिता के आत्मचरितार्थन को ही देखते हैं। प्राकृतिक जगत् में यह सही भी हो सकता है कि अधिक जानकारी अधिक बड़े व्यवस्थान की ज्ञापक हो, किन्तु संस्कृति का जगत् स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान् वस्तुओं का जगत् नहीं होता। संस्कृति की कोई भी शाखा प्रकृति के समान विषयवस्तुओं की सत्ता नहीं है। प्रकृतिविषयक लोकसामान्य धारणा के विपरीत, संस्कृति जगत् के सहभागी विषयों की प्रथम दृष्ट्या स्वतन्त्र सत्ता के जैसी सत्ता भी नहीं होती। सब प्रकार के सांस्कृतिक अनुभव अनिवार्यतया आत्मचेतनामूलक ही होते हैं। किसी वस्तु के संस्कृति की प्रतिमा होने के लिए उसका चेतना की अभिव्यक्ति होना अपेक्षित है।"[६] इससे ऐसा प्रतीत होगा जैसे पांडे जी मानो प्रकृति को एक पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता मान रहे हों। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रकृति की इतर के रूप में स्वतन्त्रता केवल चेतना का आत्मप्रकाश में सीमित होना ही है। वे कहते हैं—"सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रिया 'इतर' का आत्मा से अभेद पाने की प्रक्रिया ही होती है। आत्मचरितार्थन की सम्पूर्ण प्रक्रिया यह बोध साधने की प्रक्रिया ही होती है कि इतर वास्तव में इतर नहीं है, वह 'आत्मा' से अभिन्न है। ... ..सर्वज्ञता वास्तव में आत्मचेतना द्वारा इतर सब का आत्मसमावेशन ही है, जिसमें विषयी और विषय में केवल प्रातीतिक भेद ही रहता है, वास्तविक नहीं।"[१०]

संस्कृति को इस प्रकार आत्मा द्वारा समाज के माध्यम से अपने स्वरूप को पाने की प्रक्रिया, अथवा कहें अपने पर से अनात्म का आवरण निवारित करने की प्रक्रिया कहने का अर्थ है 'आत्मा' को 'वैयक्तिक अस्मिता' का पर्यायवाची नहीं देख कर वैयक्तिक अस्मिता को केवल औपाधिक देखना और इस प्रकार सांस्कृतिक अभियान-प्रक्रिया को आत्मा के आत्मचरितार्थन के वैश्व अभियान या प्रक्रिया के रूप में देखना। यह इससे और स्पष्ट हो जाता है कि पांडे जी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विभिन्न संस्कृतियों को एक आधार संस्कृति के और विभिन्न इतिहासों को एक वैश्व इतिहास के अंगों के रूप में ही देखते हैं। उनके अनुसार "सिद्धान्ततः इतिहास केवल एक है जिस पर हम पहुँच सकते हैं और इस प्रकार एक ही संस्कृति, अथवा कहें एक ही परासंस्कृति है।"[११] संस्कृति विषयक इस तत्त्व-दृष्टि को आधार बनाकर ही पांडे जी ने भारतीय संस्कृति का विस्तृत और गहन अध्ययन **भारतीय परम्परा के मूल स्वर, फाउण्डेशन्स् ऑफ इण्डियन कल्चर** तथा **भारतीय समाज** आदि ग्रन्थों में किया है और **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** में सब धर्मों की प्रकट विभिन्नता की एक आधार में प्रतिष्ठा प्रदर्शित की है।

इसी प्रकार कला के स्वरूप-विवेचन में भी पांडेजी की इसी तत्त्व-दृष्टि को देखा जा सकता है। कला के विवेचन में उनकी यह तत्त्व-दृष्टि रस-विषयक विचार में सर्वाधिक स्पष्टतया प्रतिपादित हुई है। इसमें सर्वप्रथम द्रष्टव्य है कि वे जिस प्रकार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष को वस्तु-सत्य का ग्राहक देखते हैं उसी प्रकार बुद्धि को भी देखते हैं, और ठीक उसी प्रकार प्रतिभा को भी वस्तु-सत्य का ग्राहक ही देखते हैं। ग्रहण के ये रूप परस्पर आधारभूत रूप से भिन्न हैं यह स्पष्ट है और तब उसी प्रकार इनकी ग्राह्य वस्तुओं के रूप भी भिन्न हो जाएंगे। किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा, ये भेद केवल उपाधि-भेद मात्र हैं, मूल वस्तु एक ही है—आत्मा। किन्तु यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये सब वस्तु-सत्य के दर्शन के ही रूप हैं। पांडे जी इन रूपों में ऊर्ध्वाधर्य भी देखते हैं। ऐन्द्रिय वस्तु-ज्ञान और उसका ग्राह्य वस्तु-रूप जबकि अधस्तम हैं, प्रातिभ वस्तु-ज्ञान और उसका ग्राह्य वस्तु-रूप ऊर्ध्वतम हैं। यह प्रातिभ वस्तु-ज्ञान किस प्रकार का है? इसका आदर्श रूप वैदिक काव्य में देखा जा सकता है। वे कहते हैं—"वेद में काव्य की मूलभूत शक्ति, साक्षात् ज्ञान और मनीषा को एकात्मक माना जाता था। मानव-कवि दिव्य कवि का मात्र प्रतिनिधि था। साक्षात्कार, सर्जन-शक्ति, रचना और छन्द ये वास्तव में दिव्य चेतना की सम्पत्ति हैं। देवताओं को कवि, द्रष्टा और रूप-निर्माता माना जाता था। मनुष्य देवताओं का अनुकरण ही कर सकता था, शब्द-साम्राज्य में स्रष्टा का पद ग्रहण कर सकता था। किन्तु कवि जिसकी सृष्टि करता है वह देवेषित होने के कारण प्रामाणिक अथवा सत्य-सहित होना चाहिए।"[१२] इसी प्रकार "... ..संस्कृति के मूल पर्व में एक सनातन विद्या का उन्मेष देखा जा सकता है, जब प्रतिभाशाली पुरुषों की सहज बुद्धि दिव्य प्रेरणा ग्रहण करने में समर्थ थी, जब द्रष्टा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार प्राप्त कर शब्दों में उसकी सहज अभिव्यक्ति कर सके थे। यह वस्तुतः काव्य का मांत्र युग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कहा जा सकता है जब 'कवि' शब्द मानवीय कवि और ईश्वर के लिए समान रूप से प्रयुक्त होता था।"[१३] यहाँ जो विशेष बात उल्लेखनीय है वह यह कि पांडे जी यहाँ 'ज्ञान' शब्द के अर्थ को जो विस्तार दे रहे हैं वह यद्यपि वैदिक दृष्टि के अनुकूल हो सकता है किन्तु भारतीय परम्परा में स्वीकृत ज्ञान-विषयक दृष्टि से पूर्णतः समंजस नहीं है। भारतीय दार्शनिक परम्परागत दृष्टि ज्ञान को वस्तुतंत्र और वस्तु को पूर्वसिद्ध और स्व-तन्त्र सत् स्वीकार करती है और उसी के अनुसार ज्ञान का लक्षण त्रिकालाबाधितत्व स्वीकार करती है। इसलिए इस दृष्टि में सृजन के सत्य-संध होने के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकर द्वारा 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र के भाष्य में 'धर्म' और 'ज्ञान' के भेद का विवेचन यहाँ ध्यातव्य है और उनके ज्ञान विषयक इस प्रतिपादन को वास्तव में भारतीय दृष्टि का ही नहीं सामान्यतः सभी की दृष्टि का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। किन्तु पांडे जी की दृष्टि इस दृष्टि से भिन्न है, यह ऊपर हमारी व्याख्या से स्पष्ट है। इसी प्रकार पांडे जी रस का विवेचन करते हुए सत्यविषयक भारतीय धारणा का विस्तार करते हैं। उनके अनुसार "कला जिस सत्य का अनुसंधान करती है वह सम्बन्धात्मक सत्य नहीं है, वह प्रतिविशिष्ट तथ्य का सत्य है। यह तर्क-गोचर न होकर भाव-गोचर है।"[१४] यहाँ कहा जा सकता है कि 'तर्क-गोचर सत्य' और 'भाव-गोचर सत्य' में गोचरता समान होनी चाहिए और इस प्रकार सत्य भी समान ही होना चाहिए। यह सही है। किन्तु जो सत्य इन दोनों उपाधियों को धारण कर सकता है वह इन दोनों से अतिक्रांत ही हो सकता है। इस सत्य को त्रैकालिक और आत्मविश्रान्त तथा स्वलक्षण ही होना चाहिए। किन्तु ऐसा सत्य तर्कोपाधि में तो लक्षित हो सकता है, भावोपाधि में नहीं, जो सृजन-धर्मा है।

पांडे जी की तत्त्व-दृष्टि के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वे अद्वैतवेदान्त-परम्परा में एक मौलिक चिन्तक हैं और उन्होंने उस दृष्टि को विस्तार देते हुए साधारण लोक-जीवन से लेकर संस्कृति, समाज और कला तक विभिन्न पक्षों को उसके अन्तर्गत विवेचित किया है। शंकर ने भक्ति-काव्य की रचना करके भी[१५] अपने दार्शनिक विवेचन में भक्ति पर न केवल कोई विचार ही नहीं किया है बल्कि उसके लिए कोई अवकाश भी नहीं रखा है। किन्तु पांडे जी ने उस दर्शन को इस प्रकार रूपान्तरित कर दिया है कि उसमें अनुभव के सभी आयाम अपना स्थान पा लेते हैं। इसके पीछे उनकी जो दृष्टि है वह रसविषयक प्राचीन चिन्तन के नवीकरण के उनके प्रस्ताव में देखी जा सकती है। वे कहते हैं— "यह सही है कि कुछ विद्वानों ने उसकी (रस की) शास्त्रीय चर्चा को फिर से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रस्तुत करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है, किन्तु उसके अभी पुरानी पारिभाषिकता के दुर्ग से न निकलने के कारण उसको एक जीवन्त प्रत्यय के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, यह नहीं कहा जा सकता।"[१६] पांडे जी वेदान्त दृष्टि को भी पारिभाषिकता के दुर्ग से मुक्त करने और उसे एक जीवन्त प्रत्यय के रूप में प्रस्तुत करने में इस कारण सफल हो सके हैं क्योंकि वे अद्यतन विचारों के घात-प्रतिघातों के जीवन्त सम्पर्क में हैं, जैसा कि उनके ग्रन्थों में अद्यतन पाश्चात्य वैचारिक वाङ्मय की आलोचनाओं से देखा जा सकता है।

पाद टिप्पणियाँ

१. द्रष्टव्य पांडे जी के अग्नि-बीज और क्षण और लक्षण काव्य-संग्रहों पर माध्यम पत्रिका में प्रकाशित हमारा लेख 'आधुनिकता, दर्शन और कविता' तथा हंसिका काव्य-संग्रह पर साक्षात्कार पत्रिका में प्रकाशित लेख 'एक हंस चेतना की काव्य-रचना।' ये दोनों लेख हमारी पुस्तकों साहित्य-चिन्तन और युग-चिन्तन तथा काव्य विमर्श, राका प्रकाशन, इलाहाबाद में भी संकलित हैं।

२. पांडे जी की दार्शनिक कृतियों पर मेरे निम्न लेख द्रष्टव्य हैं—साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति पर 'साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति : एक तात्त्विक विवेचन', मूल्य मीमांसा पर 'मूल्य-विमर्श' और भक्ति-दर्शन विमर्शः पर 'भक्ति का दार्शनिक विमर्श।' ये लेख पहले क्रमशः साक्षात्कार, नया प्रतीक और उन्मीलन पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए और अनन्तर साहित्य-चिन्तन और युग-चिन्तन लेख-संकलन में प्रकाशित हुए।

३. द्रष्टव्य पांडे, गोविन्दचन्द्र— मूल्यमीमांसा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७३, पृ. २६६

४. वहीं, पृ. २३०-२३४

५. पांडे, गोविन्दचन्द्र — भक्तिदर्शन विमर्शः, सम्पूर्णनन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९१, पृ. ६६१

६. पांडे, गोविन्दचन्द्र — 'तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन', उन्मीलन, षाण्मासिक दार्शनिक पत्रिका, अंक-१, वर्ष १, १९८५, पृ. ११-१२

७. मूल्य-मीमांसा, पृ. ८९-९१

८. Pande, G.C. — The Meaning and Process of Culture [Shivlal Agrawal, Agra, 1982] P. 2

9. वही, पृ.सं. ८

१०. वही, पृ. ४०-४१

११. वही, पृ. ४२

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

१२. पांडे गोविन्दचन्द्र, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, १९८९, द्वितीय संस्करण, पृ. १०८

१३. पांडे, गोविन्दचन्द्र — साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति, हिन्दोस्तानी ऐकेडेमी, इलाहाबाद, १९९४, पृ. २७

१४. मूल्यमीमांसा, पृ. १०५

१५. द्रष्टव्य पांडे, गोविन्दचन्द्र — शंकराचार्य : विचार और सन्दर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, १९९१, अ.१ तथा लाइफ एण्ड थॉट ऑफ शंकराचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, १९९४, अ. ५

१६. भारतीय परम्परा के मूल स्वर, पृ. १०२.

❑

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन गोष्ठी १

उन्मीलन-गोष्ठी का यह आयोजन २ सितम्बर, २००२ में प्रोफेसर दयाकृष्ण के घर पर हुआ, जिसमें उन्मीलन के जुलाई, २००२ अंक में प्रकाशित मुकुन्द जी के 'धर्म और नीति : मानव-कर्म के सन्दर्भ में उपेय विचार' लेख पर चर्चा हुई। इसमें प्रो. दयाकृष्ण, डॉ. मुकुन्द लाठ, डॉ. नन्दकिशोर शर्मा, डॉ. के.एल. शर्मा, डॉ. सरला कल्ला, डॉ. योगेश गुप्ता, कुमारी वर्षा कल्ला, श्री आलोक व्यास तथा मैंने भाग लिया। उस विचार-विमर्श का विवरण नहीं लिखा जा सका, किन्तु उसके बाद मैंने मुकुन्द जी के इस लेख पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखी जो नीचे दी जा रही है। यदि पाठक मुकुन्द जी का लेख और यह टिप्पणी पढ़कर अपनी प्रतिक्रियाएँ भेज सकें तो उनका स्वागत होगा।

—यशदेव शल्य

धर्म और नीति : मानव-कर्म के सन्दर्भ में उपेय पर मुकुंद जी कृत विचार

मुकुंदजी धर्म-नीतिगत कर्म के स्वरूप पर और उसके निष्पादन के क्रम में उपस्थित होने वाली समस्याओं पर पिछले काफी समय से विचार करते रहे हैं और वह सब विचार उन्मीलन के पिछले अंकों में प्रकाशित होता रहा है। यह लेख उसी श्रृंखला की एक कड़ी है। कम से कम एक कड़ी अभी आगे और जुड़ेगी। धर्म-नीति, कर्म, कर्त्तव्य-निर्णय में दुविधा, जिसे मुकुंदजी ने 'धर्म-संकट' कहा है, इस सब पर हमारी परंपरा में बहुत गहरा विचार हुआ है, किन्तु आधुनिक काल में इस पर कोई मौलिक विचार हुआ है ऐसा हमारी जानकारी में नहीं है। मुकुंद जी की यह विशेषता है कि वे इन प्रश्नों पर अपने को प्रस्तुत समस्याओं के रूप में ही विचार करते हैं और इस विषयक परंपरा को उसमें नितान्त सहज रूप में उपजीव्य बनाते हैं। वे उस विचार-परंपरा का न केवल विवरण ही प्रस्तुत नहीं करते बल्कि उसे विचार-विषय भी नहीं बनाते। वे इन प्रश्नों पर स्वयं ही विचार करते हैं और उसमें बहुत गहरा जाते हैं। किन्तु यहाँ हम उनके केवल उपर्युक्त लेख की ही समीक्षा करेंगे और वह भी केवल छिद्रान्वेषी दृष्टि से। इस लेख की अच्छाइयों की ओर, जो अनेक हैं, हम कोई ध्यान नहीं देंगे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उनके पिछले लेखों में जबकि धर्म-नीति का स्वरूप और उस नीति के निर्वाह में उपस्थित दुविधाएँ, जिन्हें उन्होंने धर्म-संकट कहा है, विचार के मुख्य विषय रहे हैं। इस लेख में उन्होंने कर्म-विचार का एक दूसरा पक्ष चुना है : कर्म का कर्त्तृ-पक्ष, कर्म में प्रवर्तित चेतना का स्वरूप और उस चेतना की उपकरणभूत इन्द्रियों का स्वरूप। इस दृष्टि से इस लेख का शीर्षक कुछ अनुपयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि इसे कर्त्तृ-विचार तो कहा जा सकता है किन्तु उपेय-विचार तो दूर उपाय-विचार भी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में उपाय-विचार, और बहुत दूर तक उपेय-विचार भी, उनके पिछले लेखों का विषय रहा है। किन्तु यह लेख अभी पूरा नहीं हुआ है इसलिए संभव है आगे वे इस लेख में भी इस पर विचार करें।

अब इस कर्त्तृ-विचार में भी कर्म में प्रवृत्त, या कर्म रूप में प्रवर्त्तित चेतना के स्वरूप पर कोई विचार इस लेख में नहीं हो पाया है, सिवाय इसके कि उन्होंने इसके लिए चेतना का आत्मचेतन होना अनिवार्य कहा है। किन्तु यह क्यों अनिवार्य है, अथवा कहें चेतना के आत्मचेतन होने से क्रिया में क्या ऐसा जुड़ता है जो उसे कर्म बनाता है, इस पर इस लेख में कोई विचार नहीं हो पाया है। उन्होंने वास्तव में इस पक्ष में जो विचार किया है उसे भौतिक क्रिया और जैव चेष्टा में भेदविषयक विचार अधिक कहा जा सकता है जिसे उन्होंने कारण-कार्य को इच्छामूलक प्रतिपादित कर दिखाने का प्रयत्न किया है। इस चेष्टा में, जिसे उन्होंने क्रिया ही कहा है, कर्म का पद प्राप्त करने पर क्या जुड़ता है, इस पर कोई विचार इस लेख में दिखायी नहीं देता। जैसा कि हमने ऊपर कहा, लेख में विचार का मुख्य विषय कर्म का कर्त्तृ-पक्ष है और इस कर्त्तृ-पक्ष में उन्होंने चेतना के बुद्धि-पक्ष या आवेग या भावना-पक्ष के ऊपर देह और इन्द्रियों, मुख्यतः इन्द्रियों के पक्ष पर अधिक विचार किया है। यद्यपि इन्द्रियों पर इस प्रकार विचार शायद ही किसी ने किया हो, जो इस लेख को वैशिष्ट्य देता है, किन्तु मुकुन्द जी ने इन्द्रियों को देहावयव रूप में और देह को चित्त-बाह्य रूप में अधिक देखा है, जो हमारे विचार में वास्तव में स्वयं उन्हें भी स्वीकार्य नहीं है। निश्चय ही देह और इन्द्रियों को दो रूपों में देखा जा सकता है - चेतना की वृत्तियों के रूप में और चेतना के उपकरणों के रूप में, और इस प्रकार एक अर्थ में चेतना से बाह्य रूप में; इसी प्रकार स्वयं देह को भी दो रूपों में देखा जा सकता है - चित्त की देह-वृत्ति के रूप में और भौतिक रूप में। मुकुन्द जी जबकि इन्हें इन दोनों रूपों में ही देखते हैं, जैसा कि निम्न उद्धरण से देखा जा सकता है, उन्होंने इस एक स्थल के अतिरिक्त इन्हें केवल दूसरे रूप में ही देखा है। इस स्थल पर वे कहते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हैं—"चित्त की सीमा कहाँ तक है? इसका आँकना सरल नहीं है। चित्त और इन्द्रियों के बीच अन्तर जान पड़ता है। पर क्या पदार्थ-भेद या कोटि-भेद जैसा कुछ अन्तर है? वह तो नहीं जान पड़ता। शरीर की भी चित्त से भिन्न अपनी सत्ता जान पड़ती है - *पर शरीर चित्तगत भी है*। नहीं तो हम देख आये हैं कि इन्द्रियों का चित्त से कोई अन्तर है, वह तो नहीं ज्ञान पड़ता। शरीर की भी चित्त से भिन्न अपनी सत्ता जान पड़ती है — पर शरीर चित्तगत भी है। नहीं तो हम देख आये हैं कि इन्द्रियों का चित्त से कोई अन्तरंग ज्ञान-सम्बन्ध बनता नहीं दिखता। न शरीर के प्रति आत्मबोध ही बनता दिखता है।" (१५९) यहाँ स्पष्टतः दोनों बातें हैं, शरीर और इन्द्रियाँ चैत्त हैं भी और नहीं भी। किन्तु जैसा कि हमने ऊपर कहा, इन पंक्तियों को छोड़कर शेष लेख में इन्द्रियों और शरीर को चित्त-बाह्य ही देखा गया है। किन्तु यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। बुद्धि से इन्द्रियों तक सब चित्त ही है, विभिन्न प्रकार की और स्तर की चित्तवृत्तियाँ, केवल देह को उसमें : इन्द्रियों के दैहिक उपकरणों को भी सम्मिलित करते हुए : दो प्रकार से देखा जा सकता है। मुकुन्द जी ने इन्द्रियों के दैहिक उपकरणों को ही इन्द्रियाँ माना है, जो ठीक नहीं है। चक्षु-गोलक या कर्ण-विवर उसी प्रकार इन्द्रियाँ नहीं हैं जिस प्रकार मस्तिष्क की स्नायुएँ बुद्धि नहीं हैं और ग्रंथियों के स्राव आवेग नहीं हैं। इन्द्रियाँ विचारों और आवेगों के समान ही चित्त-वृत्तियाँ हैं। जहाँ तक देह का प्रश्न है, देह देह-भाव के रूप में चित्त-वृत्ति ही है, इस भाव के रूप में हम देश में अवस्थित होते हैं और बाह्य जगत् का नियोजन करते हैं तथा अन्य व्यक्तियों के बीच अवस्थित होते हैं, किन्तु इस देह-भाव का अधिष्ठानभूत देह हमें बाह्यतः दृश्य भी होता है और भौतिक-रासायनिक नियमों का विषय होता है, जो नियम चैत्त नहीं होते। यहाँ ध्यातव्य है कि देह की बाह्यावलोक्यता यों कोई अनोखी बात नहीं है, यह अवलोक्यता आत्मचेतन चेतना के लिए ही है और इस चेतना के लिए इसकी सभी वृत्तियाँ बाह्यतः अवलोक्य होती हैं— विचार से लेकर संवेद और कर्म-प्रवृत्ति तक। देह सामान्यतः हमें देहाभिमान की विषयता के रूप में ही दिखायी देता है और उस रूप में हमें अपने विचारकत्व, भावकत्व और दर्शकत्व भी विषय रूप में दिखायी देते हैं। (हम समझते हैं कि हम यहाँ मुकुंद जी के विपरीत कुछ नहीं कह रहे हैं, केवल उनके विचार की दिशा में ही कुछ आगे जा रहे हैं, जहाँ तक जाना मुकुंद जी ने अपने लेख की सीमा-रेखा से बाहर रखा है।) किन्तु देह विषयक हमारे उपर्युक्त विवेचन के विपरीत कहा जा सकता है कि देह भौतिक कारण-कार्यता की अधीनता भी प्रदर्शित करता है—इसमें भार और विस्तार है और इनके पक्ष से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह गुरुत्वाकर्षण का विषय भी होता है, इसी प्रकार यह रसायन विज्ञान का विषय भी होता है जबकि विचारकत्व आदि वैसे नहीं होते। यह ठीक है। हम भी देह की भौतिकता-रासायनिकता का निषेध नहीं कर रहे हैं। किन्तु यह केवल विषयता के रूप का भेद ही है। देह की यह विषयता ऐन्द्रिक होती है, जो अन्य किसी चैत्त वृत्ति की नहीं होती। विषयिता के पक्ष में देह बुद्धि के क्रम में ही ठहरता है। उल्लेखनीय है कि सांख्य और बौद्ध भी इसे बहुत कुछ इसी प्रकार देखते हैं। सांख्य के अनुसार मूल करण बुद्धि ही है और शेष देहपर्यन्त उसी का तारतम्य है। और बौद्धों के अनुसार बुद्धि, मन आदि के समान ही देह भी एक स्कंध है।

मुकुंद जी के इस लेख का मुख्य विचार्य विषय इन्द्रियों का स्वरूप है। इन्द्रियों को इस प्रकार विचार्य विषय बना कर मुकुन्द जी ने विचार की एक नयी दिशा प्रशस्त की है। उनके लेखन में नयी दिशाओं के ऐसे संकेत प्रायः ही उभरते रहते हैं जिसका कारण है कि उनके लिए विचार एक ऐसी रोमांचकारी अनुसंधान-यात्रा है जिसके लिए डगर भी वे स्वयं ही बनाते हैं, पहले से बने राजमार्ग पर चलना उनके विचार का ढंग नहीं है। किन्तु इन्द्रियविषयक उनके इस चिन्तन में कुछ बातें ऐसी हैं जो हमें युक्तिसंगत दिखायी नहीं दीं। इनमें जो बात हमें सबसे अधिक अयुक्त प्रतीत हुई है वह उनके द्वारा किया गया ज्ञानेन्द्रियों में प्राप्यकारी-अप्राप्यकारी का भेद और अप्राप्यकारियों में भी श्रोत्र को चक्षु से पृथक् कर श्रोत्र को वस्तु-निरपेक्ष और चक्षु को वस्तु-सापेक्षं कहना है। इसमें हमें कोई युक्ति दिखायी नहीं देती। सभी इन्द्रियाँ समान रूप से संकेतात्मक संवेदरूप होती हैं और ये सब संकेत चेतना के जगद्भाव में समान रूप से बाह्यवस्तु-सम्बद्ध होते हैं। इसी सम्बन्ध के कारण ये इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ कही जाती हैं। कौन सी इन्द्रिय हमें अधिक वस्तु-प्रापक लगती है, यह हमारे चित्तगत पूर्वग्रह पर निर्भर करता है, स्वयं इन्द्रियों के स्वरूप पर नहीं। किन्तु इस रूप में भी स्पर्श दर्शन से अधिक वस्तु-प्राप्यकारी नहीं होता, वह हाथ के साथ संयुक्त होकर ही वस्तु के अधिक निकट : प्राप्यकारी : प्रतीत होता है। किन्तु इस वस्तु की पहचान हमें मुख्यतः चक्षु ही देती है। किन्तु द्रष्टव्य है कि पहचान में चक्षु की यह प्राथमिकता भी हमारे चित्त के पूर्वग्रह के कारण ही होती है। हमारे से भिन्न, कुत्ते के लिए घ्राण अधिक पहचान का साधन है, चक्षु कम। चींटियाँ तो आँखें होने पर भी उनका उपयोग नहीं करतीं, वे केवल घ्राण से ही वस्तु की पहचान करती हैं। फिर ऐसे जीव भी हैं जिनके आँखें हैं ही नहीं, किन्तु पहचान तो वे भी करते ही होंगे। अब रही श्रोत्र के वस्तु-असंबद्ध होने की बात।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह भी हमें ठीक प्रतीत नहीं होती। हम ध्वनि को 'कहीं से भी नहीं उपजी' के रूप में नहीं सुनते, 'यह किसकी ध्वनि है और किधर से आयी है', ये दोनों अपेक्षाएँ उससे जुड़ी हुई होती हैं। अब जहाँ तक शब्द और रूप में बाह्यार्थों से स्वतंत्र अर्थ-लोक-निर्माण की योग्यता (जैसे संगीत और चित्रकला में) का प्रश्न है, वह भेद अवश्य इनमें है, रसना और स्पर्श अधिकांशतः अपने ग्राह्य गुणों में आत्मपर्यवसायी अर्थों के लोक ही उद्घाटित करते हैं जबकि रूप और शब्द अपने से परे के लोकों के भी उद्घाटक होते हैं। किन्तु यह कोई इन इन्द्रियों की अनिवार्य सीमा नहीं है। उदाहरणतः मूर्त्ति त्वग्ग्राह्य गुण-सम्बद्ध वस्तु में चक्षु-ग्राह्य गुण-सम्बद्ध अर्थ-लोकों की सृष्टि होती है। किन्तु क्या अर्थों को किन्हीं इन्द्रिय-ग्राह्य गुणों से उस प्रकार सम्बद्ध किया जा सकता है जिस प्रकार गुणों को इन्द्रियों से? उदाहरणतः नृत्त में व्यक्त अर्थ उतने ही गान रूप में भी व्यंजनीय होते हैं और मूर्त्ति तथा चित्र रूप में भी व्यंजनीय होते हैं। घ्राण और रसना-ग्राह्य गुण उन अर्थों को धारण नहीं कर सकते यह ठीक है, किन्तु रूप, स्पर्श और स्वर को मधुर और कटु आदि जो कहा जाता है उसमें अर्थगत साम्य के कारण ही। वास्तव में मुकुंद जी ने जो इन्द्रियों में अर्थोन्मेष की दृष्टि से भेद किया है उसमें चेतना के स्वातंत्र्य की मात्रा में भेद दिखाने के उद्देश्य से ही किया है। यह बात तो बड़ी पते की है किन्तु उसे लेकर हमने ऊपर जो थोड़ा सन्देह प्रकट किया है उसके प्रकाश में संभव है वे अपनी बात कुछ और तरह से भी देखना चाहें।

वास्तव में त्वक्, घ्राण और रसना को उन्होंने जो चक्षु से भिन्न किया है वह भोग और ज्ञान के आधार पर। उनके अनुसार प्रथम तीन जबकि भोगेन्द्रियाँ हैं पिछली दो ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ऐसा नहीं है कि वे प्रथम तीन को ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं मानते, केवल भोगेन्द्रियाँ ही मानते हैं, किन्तु वे उन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ भी मानते हैं यह केवल परोक्षतः ही सूचित होता है। दूसरे, वे इनमें भोग पक्ष को ही मुख्य मानते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि वास्तव में ये इन्द्रियाँ प्रयोजन-भेद से दोनों की समान रूप से करण होती हैं। उदाहरणतः कोई वस्तु पत्थर है या जल या रूई, आँख नहीं होने पर या अँधेरे में हम यह निर्णय स्पर्श से ही करते हैं, इसी प्रकार दाल में नमक कम है या अधिक, दृष्टिगत वस्तु नमक है या मिश्री, यह भेद भी हम रसना के ज्ञान के करण रूप में प्रयोग से ही करते हैं। किन्तु इन्हीं का प्रयोग हम भोग-करणों के रूप में भी करते हैं। रसना का आस्वादन के निमित्त से उपयोग भोगार्थक होता है। किन्तु इसमें भी प्रयोजन-भेद हो सकता है और परिणामस्वरूप अर्थ-भेद भी। उदाहरणतः रसोइया व्यंजन को चखते हुए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आस्वाद-सुख नहीं लेता बल्कि स्वाद की सम्यक्ता, उसकी यथोपयुक्तता का निर्णय करता है। अब यदि इस भेद को थोड़ा सूक्ष्मता से देखें तो इसमें चेतना के जगद्रूप में प्रवर्तन में एक दुर्निवार रसेच्छा दिखायी देती है। 'भोजन' और 'भोग' दोनों शब्दों का मूल एक ही भुज् धातु है, वास्तव में ये एक ही शब्द हैं। किन्तु मात्र भोजन के लिए यह नितान्त अनावश्यक है कि भोज्य वस्तु का कोई स्वाद भी हो। डाक्टर नाली से जो हमारे अन्दर भोजन पहुँचाते हैं वह स्वाद-रहित ही होता है। इसी प्रकार प्रकृति के लिए भी यह संभव था कि वह भोजन के लिए दान्त, जिह्वा आदि की जो व्यवस्था करती है उसमें रसात्मकता का योग नहीं करती। संभव है बहुत से जीवों में रसना का उपयोग केवल भोज्याभोज्य के विवेक तक ही सीमित हो, आस्वादन : रसात्मकता का पक्ष : उसके साथ हो ही नहीं। जो भी हो, ये दो नितान्त भिन्न पक्ष हैं और भोजनमात्रता में रसात्मकता का आधान भोग को सुखमय बनाने के लिए ही है। या जैसा उपनिषद् कहते हैं, यह केवल चिद्गत आनंद की अभिव्यक्ति ही है, स्वयं भोग उसका लक्ष्य नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है। अब जिह्वा में रसज्ञता दृष्टि में रूप के सौन्दर्य के आधान के जैसा है। दृश्य रूप सौन्दर्य-असौन्दर्य-प्रतीति के बिना भी ग्राह्य हो सकता है, किन्तु यह प्रतीति भी दृश्य के साथ संयुक्त हो जाती है। इस पर कहा जा सकता है कि भोजन के साथ स्वाद और स्पर्श के साथ अनुकूल-प्रतिकूल वेदना के समान दर्शन में सौन्दर्य अनिवार्यतः संयुक्त नहीं होता। किन्तु वास्तव में यह सुक्खिता या रसात्मकता का अनुभव किसी भी ऐन्द्रिय-प्रवृत्ति का अनिवार्य सहगामी नहीं होता, यह चित्त के उस भाव से भोग के साथ जुड़ने से ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार रसना और त्वक् को भोगेन्द्रियाँ कहना युक्तिसंगत नहीं लगता, ये समान रूप से ज्ञानेन्द्रियाँ भी हो सकती हैं और रसेन्द्रियाँ भी, भोगेन्द्रिय केवल मुख कहा जा सकता है, या श्वास-प्रश्वास लेने वाली नासिका। कामेन्द्रिय को भी उसी प्रकार भोगेन्द्रिय नहीं कह सकते जिस प्रकार जिह्वा को रसेन्द्रिय नहीं कह सकते, क्योंकि जिह्वा रसेच्छा की धारक होने पर ही रसना होती है और इस इच्छा की धारक सभी इन्द्रियाँ हो सकती हैं।

अब कर्म के सम्बन्ध में। मुकुंद जी कर्म को क्रियामूलक कहते हैं। (१४८) यह ठीक ही है। जहाँ क्रिया नहीं है वहाँ कर्म कैसा? किसी कर्म के लिए हम उत्तरदायी तभी हो सकते हैं यदि हम कर्त्ता के रूप में उसे क्रिया द्वारा निष्पन्न करते हैं। किन्तु तब मुकुंद जी विचार को भी कर्म मानते हैं पर उसे क्रियात्मक नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार उसमें कारण-कार्यता नहीं रहती। यहाँ हम कहना चाहेंगे कि विचार या तो कर्म नहीं है या फिर उसमें विचारक का कर्तृत्व

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और इस प्रकार क्रिया भी है। तब फिर विचार कर्म है या नहीं? विचार वास्तव में ही कर्म है और वह कर्म इसीलिए है क्योंकि उसमें हम कर्त्ता रूप में प्रवृत्त होते हैं। यदि उसमें हमारा कर्तृत्व नहीं हो तो फिर उसमें स्वातंत्र्य किस बात में है? द्रष्टव्य है कि क्रिया तो हममें उस रूप में भी होती रहती है जिसमें हमारा कोई कर्तृत्व नहीं होता, जैसे हृत्स्पन्दन, रक्त-प्रवाह आदि। इसी प्रकार विचार भी चलता रहता है, इच्छाएँ और आवेग भी उत्पन्न होते, संचरित होते और मिटते रहते हैं। किन्तु इस रूप में तो विचार में हमारा पारतंत्र्य ही सिद्ध होता है। इसमें हमारा स्वातंत्र्य इसी रूप में बनता है कि हम इच्छाओं-विचारों में सदसद् का विवेक कर सकते हैं और इनमें असद् इच्छाओं और विचारों का निरोध कर सकते हैं। एक आंग्ल दार्शनिक जी.ई. मूर ने अपने नैतिकता विषयक चिन्तन में इच्छाओं की उत्पत्ति में हमें अवश कहा है और इस प्रकार उनके लिए हमें उत्तरदायित्व से मुक्त कहा है। किन्तु हमने उनके इस प्रतिपादन को अस्वीकार करते हुए दिखाया है कि हम इच्छाओं का निरोध कर सकते हैं और आत्मपरिष्कार द्वारा एक प्रकार की इच्छाओं की उत्पत्ति का भी निरोध कर सकते हैं। इस प्रकार हम इच्छाओं के लिए भी उत्तरदायी ठहरते हैं। यह उत्तरदायित्व सामाजिक चाहे नहीं हो, क्योंकि बाह्य कर्म में अन्विति नहीं होने पर इच्छाओं के कोई सामाजिक परिणाम नहीं होते, किन्तु उनके लिए स्वयं हम उत्तरदायी ठहरते हैं और उनके हमारे अपने चित्त में परिणामों से भी नहीं बच सकते। जहाँ तक विचार का प्रश्न है, उसमें तो हम इच्छानुसार प्रवृत्त भी हो सकते हैं, उसकी दिशा भी बदल सकते हैं और उससे विरत भी हो सकते हैं। इस कर्तृत्व के कारण ही विचार हमारा कर्म ठहरता है। जहाँ तक कारण-कार्यता का सम्बन्ध है, विचार विचारेच्छा या विचार-प्रवृत्ति से आरंभ होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार हमारे बाह्य कर्म होते हैं। इस प्रकार वह कारण का कार्य भी होता है। किन्तु उस विचार में कारण-कार्यता उसकी अन्तर्वस्तु के पक्ष में नहीं रहती, जैसे युक्तियों में परस्पर और युक्ति से उत्पन्न समझ तक हम विचार करते हुए प्रतिज्ञा से निष्कर्ष तक किसी कारण-शृंखला से नहीं पहुँचते और इस प्रकार एक युक्ति दूसरी को *कारित* नहीं करती, न गणित में योग, गुणा, भाग आदि सम्बन्ध कारण-कार्यात्मक होते हैं, यद्यपि इन सम्बन्धों में अनिवार्यता होती है। कारण-कार्यात्मक सम्बन्ध जबकि बाध्यताकारक होते हैं यद्यपि अनिवार्य नहीं होते, यौक्तिक सम्बन्ध अनिवार्य होते हैं यद्यपि बाध्यताकारक नहीं होते। अन्यत्र हमने इसी आधार पर बुद्धि के स्वातंत्र्य का प्रतिपादन किया था। किन्तु तब अपने इस पक्ष में विचार कर्म भी नहीं है। विचार कर्म हमारे विचार में प्रवृत्त होने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के पक्ष में होता है, विचार-विषय के पक्ष में या विमर्श के परिणाम रूप में उपजी समझ के पक्ष में यह कर्म नहीं कहा जा सकता। किन्तु द्रष्टव्य है कि विचार विचार-प्रवृत्ति के पक्ष में कर्म होने पर भी स्वतंत्र ही होता है। विचार के लिए प्रवृत्ति संकल्पात्मक होती है, वास्तव में कर्म मात्र का ही मूल संकल्प में होता है, अन्यथा वह जैव प्रवृत्ति रूप होता है और इस प्रकार कर्म नहीं होता। उदाहरणतः हम यदि राग वश किसी की सहायता करते हैं या द्वेषवश हत्या करते हैं तो ये दोनों कृत्य जैव प्रवृत्तिमूलक होते हैं और इस प्रकार अस्वतंत्र होते हैं और परिणामतः कर्म नहीं होते। इस पर कहा जायगा कि यदि ये कृत्य कर्म नहीं होते तो इनके लिए हमें उत्तरदायी भी नहीं कहा जा सकता। यह सही है, किन्तु हमें इन कृत्यों के लिए भी उत्तरदायी इस कारण कहा जाता है क्योंकि हम मनुष्य होने से संकल्प-समर्थ थे, जिस सामर्थ्य का हमने उपयोग नहीं किया। विचार के इन दो पक्षों : संकल्प या प्रवर्तन पक्ष और युक्ति-पक्ष : में मुकुंद जी ने भेद नहीं किया है। यह भेद नहीं करने की बात मूर्त्ति और यंत्र बनाने के उनके विवेचन में स्पष्ट रूप से उभर कर आती है। उन्होंने विचार-कर्म में किसी कर्मेन्द्रिय का योग नहीं होने में चेतना का स्वातंत्र्य देखा है। किन्तु विचार में बुद्धि का योग होता है जो मूल इन्द्रिय है। यदि कर्मेन्द्रियों को बाहर हाथ-पैर रूप ही देखें, जैसा कि मुकुंद जी ने देखा है, तब तो इच्छाओं और आवेगों में भी स्वातंत्र्य मानना पड़ेगा, जो मुकुंद जी भी नहीं मानेंगे। मुकुंद जी यहाँ किस प्रकार व्यामिश्र कर रहे हैं इसके लिए हम उनके लेख से उद्धरण देंगे। वे कहते हैं—"ऊहापोह में प्रमाण-व्यापार की बात है। यह व्यापार कारण-कार्य-व्यापार नहीं है, यह आत्मचेतना का अपना स्वतंत्र व्यापार है।"(१४६) इस व्यापार को वे क्रियात्मक नहीं देखते और इसी से कारण-कार्यात्मक नहीं देखते। इसके लिए वे कहते हैं—"पर क्रिया के बिना कर्म की पकड़ पूरी नहीं हो सकती। हम शरीर के माध्यम से बाहर व्यवहार-लोक में जो कुछ करते हैं उसे ऐसी प्रक्रिया के बिना नहीं समझ सकते जिसमें कर्म और क्रिया दोनों का युग-नद्ध समावेश नहीं हो। तभी वहाँ भीतर-बाहर का निष्पादन-सेतु भी चाहिए जो क्रिया के कार्य-कारण और कर्म के औचित्य-बोध और स्वातंत्र्य का मध्यस्थ हो। कर्मेन्द्रिय यह मध्यस्थता करती है।" यहाँ कुछ गहरा व्यामिश्र है। यदि देह और इन्द्रियाँ औचित्य-बोध और क्रिया के बीच मध्यस्थ हैं तो प्रश्न होगा कि वे कारण-कार्य नियमाधीन हैं या नहीं हैं? या कि वे हैं भी और नहीं भी? फिर औचित्य-बोध यदि प्रमाण-व्यापार है तो उसका क्रिया से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं बनता, जैसे ज्ञानपरक तर्क और गणित का क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं बनता और इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रकार, या किसी अन्य प्रकार से भी, वे कर्म से सम्बद्ध नहीं होते। केवल क्रिया की युक्तता-अयुक्तता की आत्म-परकता ही क्रिया को कर्म बनाती है। अब इस विचार को क्रिया में निष्पन्न करने में इन्द्रियाँ और देह उपकरण बनती हैं और इस उपकरण के रूप में देह कारणकार्य-नियमाधीन भी होती है। किन्तु इन्द्रियाँ और देह औचित्य-विचार से भिन्न विचार के लिए भी उसी प्रकार उपकरण बनती हैं। जैसे काम, क्रोध आदि में। उसमें सारा पसारा ही कारण-कार्य नियमाधीन होता है। किन्तु मुकुंदजी यहाँ कुछ और ही कहना चाहते हैं। वे कहना चाहते हैं कि आत्मचेतना का यह स्वातंत्र्य कारण-कार्य के बाह्य लोक को भी व्यापृत करता है। किन्तु वे इस प्रतिपादन की व्याख्या नहीं करते और परिणामतः बात अधूरी ही रह जाती है। वे कहते हैं—"मैं बाहर कुछ करता हूँ—मूर्त्ति बनाता हूँ या यंत्र बनाता हूँ तो वहाँ भी क्रिया का अनुभव होता है, पर कर्म के अनुषंग के रूप में—उपाय के रूप में। ... यंत्र-निर्मिति एक विचित्र कर्म है, वहाँ मैं कार्य-कारण-भाव का स्वातंत्र्य अपने किये से उभरता देखता ही नहीं, उसे उभारता भी चलता हूँ।"(१५०) यहाँ यंत्र में कारण-कार्यता का स्वातंत्र्य देखने की बात विचारणीय है। क्या यंत्र में कुछ भी ऐसा घटित होता कहा जा सकता है जो भौतिक-रासायनिक कारण-कार्यता से भिन्न प्रकार का हो? वह भिन्न कुछ केवल यंत्र-निर्माता में ही रहता है और यंत्र की कारण-कार्यता उसके प्रयोजन के साधन के रूप में उसको धारण करती है।

मुकुंद जी के लेख में कुछ और उद्भावनाएँ भी हैं जो विचारणीय हैं। एक कारण-कार्य के बोध-विषयक है। उनके अनुसार "कारण-कार्य-बोध की द्वार कर्मेन्द्रिय है।" (१५२) उनके अनुसार "ज्ञानेन्द्रिय से कारण-कार्य का ज्ञान नहीं होता।" (वहीं) यह पते की बात है। वास्तव में दार्शनिकों ने जो कारण-कार्य का निषेध किया है वह बाह्य जगत् में ही, जिसके लिए उनकी यही युक्ति होती है कि हम घटनाओं में अनुक्रम तो देखते हैं किन्तु उसमें जनक-जन्यता का अपनी ओर से आरोप ही करते हैं। इस पर मैंने अपने किसी लेख में विचार करते हुए युक्ति दी थी कि 'हम इच्छा से हाथ में गति को उत्पन्न करते हैं और तब हाथ से गिलास में गति उत्पन्न करते हैं। यह अनुक्रम की कारण-कार्य-रूपता का अप्रत्याख्येय प्रमाण कहा जा सकता है जिसे हमारे से पृथक् घटनाओं के अनुक्रम पर आरोपित करने में भी कोई अयुक्तता नहीं है।' मुकुंद जी के कथन का भी कुछ ऐसा ही आशय प्रतीत होता है। किन्तु मुकुंद जी आगे कहते हैं कि "हमारी साध को भीतर से बाहर आने में किसी व्यवधान की अनुभूति नहीं होती। 'मेरा हाथ बढ़ाना और हाथ बढ़ाने की चाह' यहाँ चाह और राह के बीच

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कोई बाध नहीं होता।" (१५३) किन्तु ऐसा नहीं है। पक्षाघात में हम बाँह उठाना चाहकर भी नहीं उठा सकते। इसी में देह की द्वि-पक्षता देखी जाती है। बाँह उठाने की इच्छा और उसके क्रियान्वयन में प्रवृत्ति यह देह का आध्यात्मिक पक्ष : देह-भाव का पक्ष : है जो पक्षाघात नहीं होने पर देह में आन्तरतः ही अवतरित होता है, किन्तु देह का भौतिक पक्ष भी है, जो इस भाव के अनुकूल भी व्यवहार कर सकता है और प्रतिकूल भी।

कुछ बातें और भी हैं जिनके मुकुंद जी से स्पष्टीकरण की अपेक्षा की जा सकती है। जैसे भाषा को और उपाय को लेकर उनका प्रतिपादन। उपाय के सम्बन्ध में वे कहते हैं—"उपाय को हम अक्सर नियम के रूप में देखते हैं और नियम को नियंत्रण के रूप में।" (१६४) यहीं वे भाषा को भी उपाय कहते हैं और स्वभाव से स्वतंत्र कहते हैं। फिर वे भाषा को उपाय रूप में विधि भी कहते हैं, किन्तु अपूर्व विधि, जिसकी वे आगे व्याख्या भी करते हैं। इसे लेकर हमें बहुत समस्याएँ जान पड़ती हैं जिनके विस्तार में हम यहाँ नहीं जाना चाहेंगे, केवल मुकुंद जी से इस पर विचार करने का अनुरोध करेंगे। किन्तु उपाय और भाषा के सम्बन्ध में बहुत संक्षेप में उनके विचारार्थ कुछ संकेत भर करेंगे। उपाय को वे नियम रूप कहते हैं, इसका क्या अर्थ है? उपाय किसी उपेय को सिद्ध करने की योजना को कहा जाता है। यह उपाय उपेय से केवल इस रूप में बँधा होता है कि उसे हमें साधना होता है। किन्तु किस विधि से, यह प्रश्न उपेय की सिद्धि तक खुला रहता है। उदाहरणतः मान लें कि हमें प्यास लगी है और उसे हमें शांत करना है। उसके लिए पानी पीना एक उपाय है, किन्तु पानी उपलब्ध नहीं होने पर हम दूध, बीयर आदि कुछ और भी पी सकते हैं। जब पानी लाना उपेय है तो उसके लिए बर्तन चाहिए। कौन सा बर्तन हो यह प्रश्न खुला रहता है और बर्तन नहीं होने पर हम हाथों को आकुंचित करके भी पानी ला सकते हैं। कव्वे ने छोटे मुँह वाली सुराही के थोड़े पानी को ऊपर लाने के लिए जो उपाय का आविष्कार किया था उसकी कहानी बच्चों की पुस्तकों में अक्सर लिखी रहती है। इस प्रकार उपाय को नियंत्रक नियम नहीं बल्कि सृजनात्मकता परिभाषित करती है। मुकुंद जी को यह बात ध्यान में नहीं हो, यह नहीं हो सकता, तब फिर वे ऐसा क्यों कहते हैं यह स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। किन्तु आगे वे भाषा को स्वभाव से स्वतंत्र उपाय भी कह रहे हैं और अपूर्व विधि की बात भी कर रहे हैं। यद्यपि ये प्रसंग विशेष उपाय विषयक ही हैं किन्तु उपाय मात्र में तो और भी खुलापन रहता है। केवल आनुष्ठानिक उपायों में एक नियम-नियंत्रितता रहती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अब भाषा के सम्बन्ध में। भाषा आत्मचेतना का अशेष है, यह कहना तो निश्चय ही ठीक नहीं है, शिल्प और साहित्येतर कलाएँ अभाषिक होती हैं किन्तु वे आत्मचेतना को पूर्वपेक्षित करती हैं। किन्तु भाषा पर विचार को अभाषिक नहीं कहा जा सकता, जैसा कि वे कहते हैं। वह भी भाषा ही होती है, उसे 'अतिभाषा' कहा जाता है। फिर भाषा के भी वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा स्तर कहे गए हैं जो युक्तिसंगत ही है।

लेख के अंत में मुकुंद जी ने कर्म के एक विशिष्ट रूप पर विचार किया है— वैदिक कर्म पर। किन्तु वे उसके बद्ध आनुष्ठानिक रूप के बजाय धर्म के और उससे संबद्ध नीति और उपेय के व्यापकतर पक्ष पर विचार करते हैं। यहाँ वे कहते हैं—"अपूर्व एक विराट् है। किं मया कर्त्तव्यम् कर्म के इस आधारभूत प्रश्न के उत्तर की प्रेरणा का अगर किसी अपूर्व से सम्बन्ध हो तो वह प्रेरणा आत्म-चेतना में संकल्प के विराट् की संभावना के साथ उतरनी चाहिए। नहीं तो अपूर्व की बात ही क्या?"(१६७) कर्म और अपूर्व विधि के स्वरूप का उनका यह विवेचन उपाय और उपेय को एक दूसरे और ऊर्ध्व धरातल पर प्रतिष्ठित कर देता है, जो वास्तव में उनके लेख का मूल विषय है। किन्तु यहाँ उन्होंने उसकी ओर संकेत भर किया है, उस पर और आगे विचार संभव है वे लेख के आगे लिखे जाने वाले भाग में करें।

सन्दर्भ

१. सांख्य सूत्र १.३८ करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात्। इस पर विज्ञानभिक्षु का प्रवचन भाष्य "तीन अंतःकरण और दस बाह्यकरण मिल कर तेरह करण (इन्द्रियाँ)। 'इनमें बुद्धि ही मुख्य करण है' इस आशय से 'अवांतर भेदात्' ऐसा कहा है।

२. द्रष्टव्य संस्कृति : मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या, पृ. ७१-७२

३. वहीं, 'मानव-स्वातंत्र्य' अध्याय

४. द्रष्टव्य - समाज : दार्शनिक परिशीलन तथा मूल्यतत्त्व-मीमांसा में क्रमशः 'नैतिकता' और 'धर्म-नीति का अन्वेष्य' अध्याय।

यशदेव शल्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन गोष्ठी - २

उन्मीलन गोष्ठी का यह आयोजन जनवरी, २००३ में आकार-प्रकार परिसर में हुआ। इसमें प्रोफेसर दयाकृष्ण, श्री यशदेव शल्य, डॉ. राजेन्द्र स्वरूप भटनागर, डॉ. मुकुन्द लाठ, डॉ. के.एल. शर्मा, डॉ. योगेश गुप्ता, कु. वर्षा कल्ला, श्री आलोक व्यास तथा मैंने भाग लिया। इस अवसर पर डॉ. भटनागर ने नैतिकता पर अपने विचार रखे और उसके अनन्तर उस पर विचार-विमर्श हुआ। डॉ. भटनागर के व्याख्यान का लिखित रूप और विचार-विमर्श का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

सरला कल्ला

नैतिकता के विषय में : राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

तर्क एवं नीति पर उपलब्ध दार्शनिक वाङ्मय की ओर ध्यान दें तो लगता है कि तर्क हो अथवा नीति, उसकी सही समझ एवं प्रयोग के लिए एक विशद तथा गहन अध्ययन की अपेक्षा है। यदि यह बात ठीक हो तब दो कठिनाइयाँ प्रकट होती हैं। पहली तो यह कि इनमें से किसी भी क्षेत्र में कोई सर्वमान्य अथवा निर्विवाद मत उपलब्ध नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, साधारण व्यक्ति को किसी ऐसे मानक का बोध नहीं होता जिसे ध्यान में रखकर वह अपने विचारों को सँजो सके अथवा व्यवहार में सुनिश्चित निर्णय ले सके।

यदि विचार तथा व्यवहार की यह आवश्यक शर्त हो कि वह दार्शनिक गवेषणा से ही गम्य हो सकता है तब मानव-जाति का एक बड़ा भाग महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने में कभी समर्थ नहीं माना जा सकेगा।

यद्यपि तर्क तथा नीति में परस्पर सम्बन्ध देखा जा सकता है तथा एक के सन्दर्भ में किया गया विवेचन दूसरे में किये जाने वाले विवेचन से सम्बद्ध हो सकता है, किन्तु मैं अपनी बात नीति के सन्दर्भ में ही कहना चाहता हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि नैतिक-अनैतिक के भेद का बोध सहज होता है और वह मानव मात्र को सहज उपलब्ध रहता है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो, यदि उसके साथ विश्वासघात हो या उसे कोई हानि पहुँचाये, अथवा उसकी हत्या का प्रयास करे, तो वह उसे ठीक समझेगा अथवा उसे अनैतिक नहीं मानेगा। सभी स्वीकार करेंगे कि कर्त्तव्य की अवहेलना अनैतिक होती है। इसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अतिरिक्त, साधारण व्यक्ति के लिए उस समाज में जिसका वह सदस्य है, जो रीति-रिवाज प्रचलित होते हैं उनका अनुसरण उचित होता है और उनका उल्लंघन अनैतिक। अब यदि विश्वासघात करना, हानि पहुँचाना, हत्या करना बुरा है तो विश्वासघात न करना, धोखा न देना अथवा सत्य-भाषी होना एवं विश्वास को निभाना, हानि न पहुँचाना, हत्या न करना अथवा जीव-रक्षा या अहिंसा उचित। इसी प्रकार अपनी स्थिति के अनुकूल अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह उचित है। इन बातों के सम्बन्ध में साधारण रूप से कोई शंका नहीं होती तथा वे सहज स्वीकार्य प्रतीत होती हैं।

परन्तु रीति-रिवाजों से कभी-कभी ये नियम टकराते भी हैं और कहा जा सकता है कि तभी धर्म-संकट की स्थिति उत्पन्न होती है। परन्तु ऐसा तब होता है जब परम्परा अथवा रीतियों का अनुसरण या तो विवेकशून्य होता है अथवा रीति को संकुचित हितों के लिए युक्ति के रूप में गलत पेश किया जाता है। किन्तु स्वयं परम्परा में ही ऐसे समाधान उपस्थित होते हैं जो धर्म-संकट को मोह-जनित अथवा अज्ञान-जनित सिद्ध करते हैं। उदाहरणार्थ एक श्रेणीगत समाधान तब प्राप्त होता है जब यह बताया जाता है कि परिवार के लिए व्यक्ति के हितों को, जनपद के लिए परिवार के हितों को, राष्ट्र के लिए जनपद के हितों को और आत्मा के हितों में नियत राष्ट्र के हितों को छोड़ना चाहिए।

एक रोचक तथ्य यह है कि जो एक सन्दर्भ में धर्म-संकट प्रतीत होता है वही अन्य सन्दर्भ में ऐसा कोई संकट प्रस्तुत नहीं करता। उदाहरणतः यदि मेरा कोई प्रिय व्यक्ति दण्डनीय अपराध करता है तो उसका हित-अहित मेरी चिन्ता का विषय होता है। अब यदि मैं न्याय-कर्त्ता की भूमिका में हूँ तो मेरे लिए धर्म-संकट की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। परन्तु यदि उस व्यक्ति से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं हो तब मुझे न्याय की प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं होगी।

गीता में वर्णित अर्जुन का व्यामोह कुछ इसी प्रकार का था। वह तब तक दूर नहीं हो सकता था जब तक उसे यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि विषाद की अवस्था में वह मोहग्रस्त था, अथवा उसका विषाद मोह-जनित था।

अब, यदि अच्छे-बुरे के भेद को सभी जानते हैं और धर्म-संकट केवल संकटाभास होते हैं तब फिर नीति या नैतिकता की समस्या क्या रह जाती है? लोक में नैतिक-अनैतिक को लेकर इतना विमर्श या बहस क्यों होती है? दार्शनिक परम्परा में नैतिकता के प्रश्न पर जो कुछ लिखा गया है उसे कैसे देखा जाय? इन प्रश्नों पर अभी विस्तार से कुछ कहना सम्भव नहीं है परन्तु इतना कहना चाहूँगा कि नैतिकता का प्रश्न ज्ञान का कम और कर्म का अधिक है। यूं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तो यह बात निर्दोष और सहज प्रतीत होती है एवं अनावश्यक पुनरावृत्ति लगती है क्योंकि नैतिकता का प्रमुख विवेच्य कर्म ही है। इसके उत्तर में इतना कहना पर्याप्त होगा कि नैतिकता के विषय में चिन्तन का एक बड़ा भाग ऐसे मानकों का अनुसन्धान रहा है जो भले-बुरे के भेद के बोध में सहायक हों।

तब कर्म की बात करने से क्या आशय है? मैं कहना चाहता हूँ कि मुझे पता है कि भला क्या हैं, बुरा क्या है, परन्तु भला करने में मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। यहाँ दुर्योधन का सहज स्वीकार स्मरणीय हो उठता है।

इसके विषय में कुछ एक बिन्दु विचारार्थ रख अपनी बात समाप्त करूँगा। पहली बात तो यह है कि भले-बुरे का भेद जानने पर भी उस भेद के अनुकूल कर्म करना लाभदायक अथवा हितकर नहीं जान पड़ता। कुछ लोग इसी कारण जीवन की एक दोहरी शैली विकसित कर लेते हैं और भले-बुरे के भेद के ज्ञान को एक आदर्श की अथवा पुस्तकीय ज्ञान की बात मानकर व्यवहार के लिए तात्कालिक और काम-चलाऊ नियम गढ़ लेते हैं तथा उन्हें ही व्यावहारिक ज्ञान की संज्ञा देते हैं। इस स्थिति में यह भी होता है कि जब-तब हम नैतिक नियमों की शिक्षा देते रहते हैं—जहाँ तक दूसरों का प्रश्न होता है, किन्तु स्वयं तथा अपनों के लिए अवसरवादिता को ही युक्तियुक्त मानते हैं।

एक दूसरी स्थिति यह लगती है कि हमारे संकुचित हित, लगाव तथा दायित्व समष्टि के हितों, समष्टि के प्रति दायित्व की तुलना में अधिक सशक्त प्रेरक बन जाते हैं। एक तीसरी स्थिति यह होती है कि स्वभाव से हमने कुछ ऐसी वृत्तियाँ, आदतें विकसित कर ली होती हैं जो कर्त्तव्य के निर्वाह में बाधा बन जाती हैं। काम, क्रोध, मोह तथा लोभ की बात हम युगों से सुनते आये हैं और वह आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी कभी भी थी। इसी से सम्बन्धित एक और स्थिति यह पायी जाती है कि व्यक्ति की चेतना में अन्य का अस्तित्व प्राय: साध्य रूप अथवा कम महत्त्व का होता है। उसके दु:ख, उसकी पीड़ा और कष्ट मुझे नहीं छूते। यही नहीं, ऐसा भी होता है कि वे मेरे सुख और आनन्द के निमित्त बन जाते हैं। स्पष्ट है कि नैतिक बोध की कमी के साथ ही यह एक रूग्णता की अवस्था है और मानवीय अपरिपक्वता का परिचय भी देती है।

इन कारणों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति के विकासक्रम में किन्हीं घटकों पर ध्यान दिये बिना विशेष परिवर्तन की आशा करना व्यर्थ है। फलत: नैतिकता का प्रश्न अन्तत: व्यक्तिपरक एक विशेष दिशा में साधना की ओर जाता है।

× × ×

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भटनागर साहब के उपर्युक्त विवेचन पर चर्चा आरम्भ करते हुए मुकुन्द जी ने कहा कि यह सही है कि नैतिकता का हमें सहज बोध होता है जो हमारे समस्त कर्म की चेतना के साथ बना रहता है, किन्तु यह भी उतना ही सही है कि उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ के सन्दर्भ में सदैव धर्म-संकट उपस्थित होने की सम्भावना बनी रहती है। यह सर्वविदित है कि कुछ नैतिक मूल्य परस्पर विरुद्ध जैसी परिस्थिति उपस्थित करते हैं जैसेकि न्याय और दया या प्रेम और कर्त्तव्य। इसके अतिरिक्त सत्य, अहिंसा, प्रेम व कर्त्तव्य ही मूल हों ऐसा नहीं है। भागवत में जिन चौबीस सद्गुणों की चर्चा है उन्हें भी इस सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। महाभारत में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जिन्हें यथार्थतः धर्मसंकट के उदाहरणों के रूप में देखा जा सकता है। श्रीकृष्ण ने महाभारत में आनृशंस्य के अतिरिक्त 'प्रभव' की भी बात की है। यह प्रभव किसमें निहित है यह जानना इतना सहज नहीं है। मुकुन्दजी ने यह भी कहा कि व्यक्तिगत नैतिकता व समष्टिगत नैतिकता में विरोध बहुधा धर्म-संकट उपस्थित करता है, युद्ध की स्थितियाँ धर्म-अधर्म के प्रश्न को सबसे तीव्र रूप में उठाती हैं। राष्ट्रधर्म के रूप में जो उचित है वह व्यक्तिगत नैतिकता की दृष्टि से अनुचित हो सकता है। राजनीति में साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति स्वीकार्य है किन्तु यह व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों के सन्दर्भ में सामान्यतया स्वीकार्य नहीं होती।

दया जी ने चर्चा आगे बढ़ाते हुए कहा कि नैतिक दुविधा या धर्म-संकट होने से ही नैतिक बोध का पता चलता है। दूसरे, किसी परम्परा के भीतर ही अन्तर्विरोध जन्म लेते हैं और उनका समाधान करते हुए नैतिक चेतना में विकास होता है। धर्म-संकट के समाधान नैतिक बोध के विकास में फलित होते हैं। वैचारिक परम्पराओं में ज्ञान मात्र में विकास की सम्भावना है तो नैतिक ज्ञान की भी है। भटनागर साहब की प्रस्तुति में 'नैतिकता में विकास' का विचार क्या स्थान रखता है यह विचारणीय है। दया जी ने यह भी टिप्पणी की कि भटनागर साहब ने जिन मूल्यों की चर्चा की है उन्हें उन्होंने अत्यन्त सीमित अर्थ में प्रयुक्त किया है। जैसे 'धोखा नहीं देना' ही मूल्य नहीं है, सत्य इससे कहीं गहनतर अर्थ सन्दर्भ वाला मूल्य है।

नन्दकिशोर जी ने भी सद्गुणों की संख्या और उन पर आश्रित भटनागर साहिब के विचार-तन्त्र को लेकर आपत्ति उठाई। उन्होंने यह भी कहा कि भटनागर साहब ने मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक सन्दर्भ में भेद नहीं किया, व्यक्ति का स्वभाव कैसा होता है या कि बच्चे अमुक बात क्यों सीखते हैं ये बातें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वस्तुस्थिति से सम्बन्धित होती हैं, वे नैतिकता विषयक विचार की अंग नहीं हो सकतीं।

योगेश जी ने कहा कि परिस्थिति विशेष में क्या नहीं करें यह जितना स्पष्ट होता है उतना स्पष्ट यह नहीं होता कि क्या करें? दूसरे, भटनागर साहब की प्रस्तुति से ऐसा लगता है कि नैतिकता या नैतिक प्रत्यय सहजात प्रत्यय जैसे हैं। क्या वास्तव में ऐसा है?

भटनागर साहब ने मुकुन्द जी की आपत्ति से बात आरम्भ करते हुए कहा कि हालांकि धर्म-संकट की स्थितियां होती हैं और उन्हें संकट के रूप में ही देखा जाता है, सर्वसामान्य अनुभव से ऐसा ही लगता है, परन्तु छानबीन करने पर वे आभास ही सिद्ध होते हैं। क्यों? इसका उत्तर देने में पुनरावृत्ति होगी। इस सम्बन्ध में दयाजी की आपत्ति उन्हें गम्भीर लगी और उन्होंने कहा कि उन्हें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि नैतिक बोध का तभी पता चलता है जब धर्म-संकट होता है। यह कुछ ऐसा ही है जैसा गलती का एहसास होने पर सही बात की ओर ध्यान जाता है। ऐसा कुछ संकेत दया जी ने किया भी है। परन्तु जब संकटापन्न अवस्था पर विचार करते हैं तब उन घटकों को अलग कर लेते हैं जो स्पष्ट बोध पर छा गए थे। तब संकट के बादल छँट जाते हैं और आश्चर्य होता है कि यह बात पहले क्यों नहीं स्पष्ट थी और तब संकट का आभास भी स्पष्ट हो जाता है। मुकुन्द जी और नन्दकिशोर जी के नैतिक गुणों की संख्या सम्बन्धी सुझाव पर उन्होंने कहा कि यह उनका प्रतिपाद्य विषय नहीं था, वे सिर्फ यह कहना चाहते थे कि "यदि व्यक्ति को यह एहसास होता है कि धोखा देना, हानि पहुँचाना आदि बुरा है, अनैतिक है, तब उसे यह भी पता होता है कि सत्य एवं अहिंसा का पालन होना चाहिए।" व्यक्तिगत व समष्टिगत नैतिकता के विरोध के सन्दर्भ में उठी आपत्ति पर उन्होंने कहा कि "धर्म-संकट के विषय में जो विचार उन्होंने प्रस्तुत करने चाहे थे उनमें एक निहित अपेक्षा एक समाज के रूप में मानवता की समग्रता भी थी। जब तक समुदायों में भेद रहेगा तब तक अपने-पराये का भेद भी रहेगा, उस अवस्था में नैतिकता के सार्वजनीन नियम केवल अपने समुदाय के सदस्यों तक सीमित रहेंगे तथा अन्य समुदाय के सदस्यों के प्रति उनका उल्लंघन हमारी चिन्ता नहीं होगी। परन्तु ऐसी स्थिति में धर्म-संकट भी उपस्थित नहीं होगा। राजनीति में कूटनीति के रूप में जो मान्य हो जाता है वह सार्वजनीन नैतिकता से बहुधा विरोध रखता है तथा इतिहास की समग्रता में बहुधा अक्षम्य होता है। महाभारत में जहाँ आपद्धर्म का उल्लेख हुआ है वहाँ युधिष्ठिर को मिथ्या-कथन पर अन्त में दण्ड भी मिला है। युद्ध में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नियम-विधान कुछ-कुछ वैसा ही रहता है जैसा सिगरेट के विज्ञापन में इस बात का अनिवार्य उल्लेख कि धूम-पान अस्वास्थ्यकर है। "नन्दकिशोर जी की तथ्यपरक व मूल्यात्मक कथनों में भेद नहीं किये जाने की आपत्ति पर उन्होंने कहा कि 'है' तथा 'चाहिए' का भेद वे भी स्वीकार करते हैं परन्तु 'है' की 'चाहिए' के लिए कोई प्रासंगिकता नहीं है, यह उन्हें मान्य नहीं है। जो हम भुगतते हैं, जो कुछ हम घटित होते देखते हैं, उसी से तो नैतिक प्रश्न उपस्थित होते हैं! कन्हैयालाल जी ने कहा, मानवीय स्वभाव की समझ नैतिक चेतना में अपना एक प्रसंग रखती है। शल्य जी के मत में भटनागर साहब की प्रस्तुति दार्शनिक नहीं थी। इस आक्षेप को स्वीकारते हुए उन्होंने प्रतिप्रश्न किया कि क्या दार्शनिकता का एक ही स्वरूप होता है? क्या दार्शनिक प्रक्रिया बहुविध नहीं हो सकती? गोष्ठी के समापन के पश्चात् अनौपचारिक रूप से कुछ प्रश्नों पर चर्चा हुई। उस चर्चा में भटनागर साहिब ने जो कहा उससे ऐसा लगा कि वे अपनी मूल मान्यता को बनाए रखना चाहते हैं, उस सबका विवरण यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

सरला कल्ला

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पुस्तक समीक्षा

यशदेव शल्य का दर्शन, सम्पा. छाया राय एवं के. एल. शर्मा, प्रकाशक : भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, २००२, पृ. ३६४, रायल आकार, मूल्य ६००/-

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्व सूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥

महाकवि कालिदासकृत रघुवंशम्

अर्द्धशताब्दी पर्यन्त आचार्य यशदेव शल्य की दर्शन-साधना और उनकी मौलिकता का कायल तो भारत का संपूर्ण दर्शन-जगत् है, फिर भी उनके चिन्तन को पूरी तरह से आत्मसात् और प्रदर्शित किया जाना सम्भव नहीं हो पाया है। एक विचारक अपने चिन्तन को लोकार्पित और लोकसम्प्रेषित करने के लिए जो कुछ कर सकता है शल्यजी ने असुविधापूर्ण परिस्थितियों में भी वह सब कुछ करने में यद्यपि कोई कसर नहीं छोड़ी है किन्तु तब भी हम उनकी सर्जना का कोई लेखा-जोखा तैयार नहीं कर पाये हैं, भारतीय दार्शनिक जगत् के लिए यह खेद की बात होनी चाहिए। सम्भवतः हमारी इतिहास की अवधारणा ही ऐसी है जो हमारे वर्तमान को उभारने के बजाय हमें अतीतजीवी बना देती है। शल्यजी ने तो अपने सम्पूर्ण चिन्तन को "भीष्म संकल्प" के साथ हिन्दी में प्रस्तुत किया है। लेकिन कैसी विडम्बना है कि राष्ट्रभाषा ही हमारे और उनके बीच की दूरी का कारण बन गयी है। काश, हम जिस भाषा में स्वप्न देखते हैं वही हमारे विचार की भी भाषा होती! सचमुच हमारे देश में बौद्धिक ईमानदारी की समस्या से गम्भीर समस्या भाषायी बेईमानी की है।

I

इधर कुछ वर्षों से भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् और अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रयासों से हम अपने वर्तमान के प्रति कुछ जागरूक हुए हैं और परिणामस्वरूप स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन को पहचानने के प्रति लोगों के रुझान में अन्तर आया है। इस दौरान बड़ी-बड़ी संगोष्ठियों का आयोजन इन दोनों संस्थाओं के द्वारा हुआ और कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन भी सामने आये हैं। भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् द्वारा रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय के दर्शन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विभाग में १९९६ में 'यशदेव शल्य का दर्शन' पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी भी इसी का परिणाम थी। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को प्रो. छाया राय तथा डॉ. के. एल. शर्मा ने अपना नेतृत्व प्रदान किया, इतिहास इसके लिए उन्हें यशोभागी समझेगा। वस्तुतः यह समय ही यशदेव शल्य के दर्शन पर राष्ट्रीय परिसंवाद आयोजित करने का "हाई टाइम" था, क्योंकि १९९४ तक चिद्विमर्श और मूल्यतत्त्व-मीमांसा के प्रकाशन के साथ ही शल्यजी के दर्शन ने एक संपूर्ण तंत्र का रूप ले लिया था। यह तंत्र क्या और कैसा है, इसकी अकादमिक घोषणा 'चिदद्वैतवाद' के नाम से शल्यजी ने २००० में "सत् की चिन्मयता" शीर्षक से भारतीय उच्चतर अध्ययन संस्थान, शिमला में व्याख्यान देते हुए की है। अपने चिन्तन की अर्द्धशताब्दी के अन्त में शल्यजी द्वारा अपने दर्शन-तंत्र के नाम की घोषणा अपने आप में बहुत कुछ समेटे हुए प्रतीत होती है।

समीक्ष्य पुस्तक का जन्म जबलपुर संगोष्ठी में शल्यजी के चिन्तन को लेकर प्रस्तुत किये गये आलेखों के संकलन की संकल्पना के साथ हुआ था। यह बहुत ही स्वागत योग्य एवं उत्साहवर्द्धक बात है कि दर्शनशास्त्र में अपनी-अपनी विधाओं के निष्णात व्यक्तियों ने शल्यजी के चिन्तन के विभिन्न पहलुओं पर विचार-विमर्श किया, उसमें अपना मनोयोग प्रदान करते हुए अपनी-अपनी समझ को लिपिबद्ध भी किया। इस प्रयास की जितनी भी प्रशंसा की जाये कम होगी। इसके बावजूद यह संपूर्ण प्रयास अपनी परिणतियों के साथ प्राथमिक प्रयास ही कहा जायेगा। क्योंकि जो भी और जैसे भी आलेख शल्यजी के दर्शन पर उस संगोष्ठी में प्रस्तुत हुए, उन्हें शल्यजी के विचारों की व्यापकता की दृष्टि से पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। इसमें शल्यजी के चिन्तन के बहुत से महत्त्वपूर्ण पक्ष अछूते रह गये हैं। इसके अतिरिक्त, प्रस्तुत हुए लेखों में भी संशोधन एवं परिष्कार की गुंजाइश कम नहीं है। इस संकलन में कुछ ही निबन्ध ऐसे हैं जो स्तर की दृष्टि से संतोषप्रद कहे जा सकते हैं। अधिकांश निबन्धों में एक प्रकार की अविचारित रमणीयता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। यह असंतोष शल्यजी की 'प्रतिक्रिया और स्पष्टीकरण' में भी बहुत साफ झलकता है। बाद में सम्पादन के दौरान इस कमी को दूर करने का भरसक प्रयास किया गया है और कुछ स्वतन्त्र निबन्धों तथा शल्यजी की पुस्तकों पर लिखी गई समीक्षाओं (हिन्दी, अंग्रेज़ी) को इस संकलन में सम्मिलित कर दिये जाने से यह कमी एक सीमा तक दूर भी हुई है, किन्तु इसके बावजूद कुछ निबन्धों को संगोष्ठी में प्रस्तुत होने के बाद सम्पादकीय टिप्पणी के साथ लेखकों को परिष्कार के लिए भेजा जाना चाहिए था, ताकि वे अपने विवेचन में शल्यजी के विचारों के साथ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न्याय कर सकते। इस पुस्तक के इतिहास में झाँकने से ऐसा प्रतीत होता है कि संगोष्ठी के निर्देशन से लेकर पुस्तक के सम्पादन तक एक सुनिश्चित एवं लक्ष्योन्मुखी योजना का अभाव रहा है। यहाँ सम्पादक द्वय का लक्ष्य केवल संगोष्ठी में प्रस्तुत हुए आलेखों का यथावत् प्रकाशन भर प्रतीत होता है। तब भी 'राग, रसोई, पागड़ी बनत बनत बन जात' को चरितार्थ करते हुए यह पुस्तक अपने वर्तमान स्वरूप में अच्छी और स्वागत योग्य है। यदि आरम्भ से ही एक सुविचारित योजना के तहत कार्य किया जाता तो शल्यजी के चिन्तन की वज्रवत् कठोर मणियों को सूत्रबद्ध करने के लिए उन्हें भेदा जा सकता था।

II

समीक्ष्य पुस्तक का पहला निबन्ध 'यशदेव शल्य की दर्शन-साधना' शीर्षक से आचार्य प्रवर गोविन्दचन्द्र पाण्डे के द्वारा लिखा गया है। यह निबन्घ पूरे संकलन के लिए आधार आलेख की तरह है। इसमें शल्य जी की प्रथम दार्शनिक कृति दार्शनिक विश्लेषण-१९६० से लेकर मूल्यतत्त्व-मीमांसा-१९९४ पर्यन्त उनके विचारों के ग्रन्थवार विकास को जिस तरह से निरूपित किया गया है, वैसा कोई शल्यजी की दर्शन-साधना का साक्षी पुरुष ही कर सकता है। स्वयं शल्यजी (पृ. २९७) ने अपने स्पष्टीकरण में इस बात को स्वीकार किया है कि इस निबन्ध में उनके विचार का विकास और मर्म चकित कर देने वाली सम्यक्ता और स्पष्टता के साथ प्रस्तुत हुआ है। इस निबन्ध की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि अर्द्धशताब्दी पर्यन्त शल्यजी की अनुसंधान-यात्रा के विभिन्न सोपानों के क्रमिक विकास को एकीकृत रूप में देखा गया है, जिनसे होकर आज शल्यजी का चिन्तन एक संपूर्ण तंत्र का रूप ग्रहण कर सका है। यद्यपि शल्यजी ने इससे पहले चिद्‌विमर्श की भूमिका में अपनी अनुसंधान-यात्रा के सोपान-क्रमों का संकेत किया था, लेकिन उस पर आचार्य पाण्डे के इस विवृतात्मक लेख से उन सोपानों की केन्द्रीय समस्यायें एवं स्थापनाएं भी स्पष्ट हो गई हैं।

आचार्य पाण्डे के अनुसार (पृ. १५) यद्यपि शल्यजी की दर्शन-साधना का प्रारम्भ तत्त्वदर्शन-विरोधी बौद्धिक परम्परा के अन्दर हुआ था परन्तु उन्होंने तत्त्वदर्शन की विधा के अन्दर ही अपना विकसित कृतित्व सम्पन्न किया है। इस सन्दर्भ में "सावधान अनुभववाद" को वे शल्यजी की दर्शन-साधना का प्रथम चरण मानते हैं। शल्यजी का दार्शनिक विश्लेषण ग्रन्थ सावधान अनुभववाद का प्रस्तावक ग्रन्थ है। इस कृति का महत्त्व तत्त्वदर्शन का विरोध और भौतिक विज्ञान के समर्थन में अपने को कृतार्थ समझने वाले अनुभववाद एवं तार्किक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भाववाद के अनुवाद में न होकर उनके विचार-वितान के छिद्रों से बाहर झाँकना है। वास्तव में शल्यजी द्वारा अनुभववाद के छिद्रों से बाहर झाँकना अनुभववाद की तार्किक- वैज्ञानिक योजनाओं की मौलिक कमी को उजागर करते हुए अन्य नाना अनुभव-क्षेत्रों के अवधारणात्मक अवगाहन के लिए दार्शनिक परिप्रेक्ष्य रचना करना था। इसके द्वारा ही शल्य जी अपनी अनुसंधान-यात्रा के दूसरे सोपान पर पहुँचते हैं जिसे आचार्य पाण्डे (पृ. १७) ने सम्प्रत्ययात्मक सापेक्षता के सिद्धान्त से अभिहित किया है। इसका सम्यक् प्रतिपादन शल्यजी की **ज्ञान और सत्** 1967 नामक पुस्तक में हुआ है। इस सोपान की केन्द्रीय समस्या ज्ञेय विषय के मूल स्वरूप की खोज थी जो अन्तत: शल्यजी की दृष्टि में ज्ञानापेक्ष वस्त्वर्थों के अतिरिक्त कुछ नहीं निकलता। एतद्विषयक आचार्य पाण्डे (पृ. १७) की यह टिप्पणी बहुत ही समीचीन है कि "प्रत्ययात्मक विश्लेषण सभी पदार्थों को उनकी ठोस और स्वतन्त्र सत्ता से मुक्ति दिला देता है। जैसे एक विराट् प्रत्यय-जाल के अन्तराल में विषय उड़ते फड़फड़ाते हों।"

सम्प्रत्ययात्मक सापेक्षता का सिद्धान्त भी शल्यजी के लिए अधिक समय तक संतोषप्रद नहीं बना रह सका। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि बाह्य विषय के सम्बन्ध में अवधारणा-सापेक्षता की बात फिर भी किसी तरीके से चल सकती है किन्तु कर्त्तव्य, आत्मा आदि विषयों के सन्दर्भ में कैसे चल सकती है? इस तरह शल्यजी सम्प्रत्ययात्मक सापेक्षता के सिद्धान्त से उत्तीर्ण होकर अपने वैचारिक विकास के तृतीय सोपान पर पहुँचते हैं। इसे १९७० के बाद के उनके लेखन में चैत्त सापेक्षतावाद से निरपेक्ष चैतन्य की ओर उत्क्रमण के रूप में देखा जा सकता है। इन दोनों ध्रुवों के मध्य दोलायमान शल्यजी के चिन्तन का विकास **विषय और आत्म** तथा **संस्कृति : मानव कर्त्तृत्व की व्याख्या** ग्रन्थों में हुआ है। शल्यजी के चिन्तन का यह सोपान कई एक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसी सोपान पर उनके चिन्तन में मूलगामिता, रचनात्मकता और सृजनात्मकता का सर्वाधिक प्रस्फुटन हुआ है। दार्शनिक महत्त्व की दृष्टि से अवधारणात्मक सापेक्षतावाद की कठिनाई विषय की बाह्यता के आकलन में उसकी असमर्थता थी। आचार्य पाण्डे के एतद्विषयक विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि **विषय और आत्म** पुस्तक में शल्यजी के लिए विषय के चिद्गत स्रोतों को देख पाना सम्भव हुआ था, लेकिन स्वयं आत्मा अथवा चेतना के उस स्वरूप को देख पाना सम्भव नहीं हुआ था जिसमें से ये स्रोत उद्गत होते हैं।

अब चेतना अथवा आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का सन्धान, जिसमें अनन्त विषयों और अपार अर्थराशि के स्रोत उद्गत होते हैं, शल्यजी के चिन्तन का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तुरीय प्रस्थान है। यहाँ वे विषय की चिद्गत संरचनाओं की प्रतिष्ठा चेतना की आत्मगत प्राकृतिकता से आत्मोन्मुख निवर्तन में देखते हैं। स्वयं शल्यजी ने इसे चिदद्वैतवाद कहा है तो आचार्य पाण्डे इसे अध्यात्मवाद और सर्जनात्मक मानववाद के सम्मिश्रित रूप में देखते हैं। किन्तु शल्यजी ने (पृ. ३०१) अपने को मानववादी कहे जाने पर आपत्ति उठाई है और वह एक दृष्टि से सही भी है। प्रचलित अर्थ में मानववाद का लक्षण मनुष्य को आत्मपर्याप्त और 'परागति' मानना है जोकि शल्य जी नहीं मानते। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी स्थिति पाण्डे जी के लेख पर अपने स्पष्टीकरण में स्पष्ट की है।

शल्यजी का चिन्तन अपने इस तुरीय प्रस्थान पर आत्मान्वेषी दर्शन-साधना के अनुपम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत होता है जहाँ आत्मलाभ की ओर उत्तरोत्तर अभिगमन करते हुए दर्शन, धर्म, संस्कृति, कला और मूल्य की चिन्मूलक प्रतिष्ठा में अन्ततः मनुष्य ही मुनष्य होने का संपूर्ण गौरव प्राप्त करता है। आचार्य पाण्डे ने अपने आलेख में इन सभी पक्षों का जैसा तलस्पर्शी विवेचन किया है वह शल्यजी की दर्शन-साधना को समझने की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी और साथ ही उनके चिन्तन के उक्त, अनुक्त और दुरुक्त पक्षों को खोलने वाला है।

III

इस संकलन का दूसरा महत्त्वपूर्ण निबन्ध शल्यजी के चिद्विमर्श पर केन्द्रित डॉ. मुकुन्द लाठ का है। मुकुन्दजी ने इस निबन्ध को अलंकार भाष्य की शैली में लिखा है। बातचीत की भाव-प्रवणता में शल्यजी को समझना और समझाना उनकी अपनी विशिष्टता है। अवधेय है कि 'चिद्-विमर्श' शब्द की अवधारणात्मक योजना शल्यजी के दर्शन के बीज जैसी है। उनकी एक कृति का नाम भी 'चिद्-विमर्श' ही है और उसे अपनी विचार-व्यवस्था में वे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। परन्तु मुकुन्दजी का आलेख इसी ग्रन्थ की विचार-सरणी में आबद्ध न होकर शल्यजी के चिन्तन को व्यापक परिप्रेक्ष्य में 'चिद्-विमर्श' शीर्षक के अन्तर्गत समेट लेता है। इस आलेख में अलंकार के फैलाव के बावजूद भी सफलतापूर्वक यह दिखाया जाना सम्भव हुआ है कि किस तरह शल्यजी का दर्शन 'चिद्-विमर्श' से प्रारम्भ होकर 'चिदद्वैत' में पर्यवसित हो जाता है। वास्तव में यदि दार्शनिक चेतना की प्रकृति उसके प्रत्यङ्मुख होने में है तो दार्शनिक कर्म चित्-विमर्श के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? तब दो दर्शनों की पद्धति और प्रतिपाद्य का भेद इस बात पर निर्भर करता है कि चैतन्य को सत्ता के किस प्रतिमान (पैटर्न) में ग्रहण किया गया है। अपने लेख के प्रारम्भ में ही मुकुन्दजी इस ओर संकेत कर देते हैं कि शल्यजी के दर्शन पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वेदान्त की किसी धारा का उतना प्रभाव नहीं है जितना कि सांख्य का प्रभाव है। पर सांख्य को भी उन्होंने अपनी तरह से ही आत्मसात् किया है। उनकी दृष्टि द्वैत-दृष्टि नहीं है, वेदान्त की तरह अद्वैत है, चित् को आधार मानकर आगे बढ़ती है। वस्तुतः इस प्रकार की बातों का अर्थ शल्यजी को वेदान्त या सांख्य से जोड़ना नहीं है बल्कि इस बात को स्पष्ट करना है कि शल्यजी ने चैतन्य को सत्ता के जिस प्रतिमान में स्वीकार किया है उसमें वेदान्त की अद्वैत दृष्टि और सांख्य की द्वैत दृष्टि का किस तरह सन्निपात है और यही सन्निपात शल्यजी के चित्-विमर्श का गूढ़ार्थ है जो चेतना और प्राकृतिक जगत् के द्वैत में नहीं बल्कि चेतना और उसी में आक्षिप्त 'जगद्भाव' के अद्वैत में फलित होता है। चेतना आत्मचेतन होकर विमर्शिनी होती है और विमर्शमुखी होने मात्र से चेतना प्राकृतिक भाव से पृथक् हो जाती है। मानो प्राकृतिक जगत् का अतिक्रमण कर ही चेतना विमर्शात्मक होती है। इस तरह शल्यजी के चिद्विमर्श में चेतना आधारभूत बनी रहती है और उसका जगद्भाव न तो द्वैत उत्पन्न करता है और न ही मिथ्यात्व। हाँ चैतन्य का जगद्भाव उसके आत्मसर्जन और आत्मचरितार्थन का वैसे ही निमित्त बनता है जैसे सांख्य की प्रकृति पुरुष के कैवल्य के लिए प्रवृत्त होती है। अपने इस लेख में मुकुन्द जी ने शल्यजी को कितनी गहराई से पकड़ा है, आश्चर्य होता है। अब यदि चैतन्य का जगद्भाव न हो तो वह निःसंग हो जायेगा, जगद्भाव में ही चिद्-विमर्श सम्भव है। शल्यजी के अनुसार मनुष्य जगद्भाव को प्राप्त चैतन्य है किन्तु यह भाव चेतना के लिए अनिवार्य नहीं है। विचार-विमर्श के द्वारा हम जगद्भाव में मानो उसी तरह प्रविष्ट होते हैं और अपने को पाने का प्रयास करते हैं जैसे ईश्वर ने अपनी सृष्टि में अपने को अनुप्रविष्ट किया होगा (तदेवानुप्राविशत्)। इस तरह विचार के लिए चैतन्य और विचार्य के लिए जगद्भाव आवश्यक है। अब यहीं से शल्यजी के दर्शन में चित्-विमर्श का कपाट खुल जाता है और पहला प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या विचार्य जगद्भाव अनिवार्य है? विचार तो कहता है कि विचार्य जगद्भाव की अनिवार्यता में ही उसकी सुनिश्चित निवार्यता निहित है। मुकुन्दजी का तर्क बहुत सटीक है (पृ. ३१) कि किसी के 'होने' का विचार उसके अभाव और अन्यथाभाव के द्वन्द्व में ही सम्भव है। इस प्रकार शल्यजी के चिद्-विमर्श में जीवन और जगत् के यावत् मूलगामी प्रश्न (यथा—जगद्भाव, जगद्भाव की निवार्यता, आगन्तुकता, जगद्भाव में मनुष्य की आत्म-अपर्याप्तता और आत्मविलगाव की स्थिति, फिर इससे उबरने के लिए आत्मसर्जना इत्यादि) एक-एक कर उभरने लगते हैं और शल्यजी का संपूर्ण चिन्तन बिना किसी शब्दश्रुति-प्रमाण के ही विचार की भित्ति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर इस तरह खड़ा होता है कि विचार ही उसे नकार न सके। मुकुन्दजी पूरे आलेख में शल्यजी के चिद्विमर्श को विचार की तहों में परत दर परत खोलते हुए विचार को उसके पुरुषार्थ तक अग्रसारित कर देते हैं। विचार का पुरुषार्थ अनिवार्य का बोध है, जो अनिवार्य नहीं वह सत्ता के लक्षण से ही च्युत है। (पृ. ३०) और विचार को यह सत्ता तब प्राप्त होती है जब चित्-विमर्श सब कुछ का अवगाहन करते हुए 'चिदद्वैत' में परिनिष्पन्न हो जाता है। इस बिन्दु पर मुकुन्दजी ने शल्यजी के दर्शन में चिर-अस्तमित तत्त्वदर्शन की पुनर्प्रतिष्ठा को विचार के पुरुषार्थ के रूप में बड़े ही माकूल ढंग से देखा है। अन्त में मुकुन्दजी ने अपने आलेख में चेतना की भाव, कर्म और ज्ञान-वृत्तियों, विचार की प्रमाण-वृत्ति के रूप में स्व-निर्धार्यता तथा जगद्भाव की अवधारणा में काल, इतिहास इत्यादि को लेकर गम्भीर प्रश्न भी उठाये हैं जिनका शल्यजी के द्वारा स्वागतपूर्वक दिया गया उत्तर अत्यन्त बोधवर्द्धक है।

इस संकलन में आगे चेतना की 'सृजनात्मक प्रत्यङ्मुख़ता' शीर्षक से डॉ. प्रियव्रत शुक्ल का एक अच्छा निबन्ध है। अच्छा इस अर्थ में कि शुक्लजी ने शल्यजी को समझने का उत्कृष्ट प्रयास किया है और उनके विचार-वितान के महत्त्वपूर्ण आकर स्थलों को पकड़ा भी है, लेकिन वे अपने पूर्वाग्रहों को पार कर शल्यजी के चिन्तन के निहितार्थों को समझने में कठिनाई महसूस करते रहे हैं। अपने निबन्ध की आरम्भिक पंक्तियों में ही शुक्ल जी ने शल्यजी की दर्शन की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि दर्शन एक मूलगामी प्रत्यङ्मुखी ज्ञान-विधा के रूप में आत्मबोध और स्वरूपबोध के प्रति सतत सृजनात्मक सक्रियता का द्योतक है। वास्तव में चेतना की प्रत्यङ्मुखता और सृजनात्मकता एक ही सिक्के के दो पहलू जैसे हैं। इस सृजनात्मक क्रिया की प्रथम कृति 'आत्मा' होती है और इसी के आत्मसर्जन-पूर्वक अन्य सभी सर्जनायें सम्भव और सार्थक होती हैं। यही कारण है कि शल्यजी के चिन्तन में स्वयंकृत आत्मा के सन्दर्भ में जीवन और जगत् का संपूर्ण प्रसार आत्मक्रियान्वयन के द्वारा आत्मसर्जन का व्यापार बन जाता है।

शुक्ल जी ने 'सृजनात्मक प्रत्यङ्मुखता की आद्य कृति आत्मा है' शल्य जी के इस अभिमत को स्पष्ट करने के लिए शल्यजी को ही उद्धृत किया है। "सत् आत्मा वह है जिसका हम अहंकारोपाधिक वृत्ति के अतिक्रमण में आभास पाते हैं। सत् होने से ही यह आत्मा अन्वेष्य है। किन्तु यहाँ यह समझना आवश्यक है कि यह सत् उस सत् से आधारभूत रूप में भिन्न है जिसकी अभ्रान्त विषय के आधार के रूप में हम कल्पना करते हैं। यह सत् चेतना द्वारा अपने आधार के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अन्वेषण के क्रम में अपने को सत्यापित करता, अपने सर्जन के क्रम में अपने स्वरूप को रचता और अपने अवगाहन के क्रम में अपने को अर्थ देता है। निरपेक्षता आदि विशेषण विषयकल्प सत् के ही हो सकते हैं, आत्म सत् के नहीं।'' (पृ. ४९) यहाँ शुक्ल जी ने अपने निबन्ध में प्राप्त जिस प्रसंग के मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए इन पंक्तियों को उद्धृत किया है उससे तनिक विचलित होकर वे विषयकल्प सत् और आत्मसत् के अन्तर को समझने में उलझ जाते हैं। यहाँ उन्हें आद्य कृति के रूप में आत्मा की अवधारणा को स्पष्ट करके आगे बढ़ना चाहिए था। अवधेय है कि इस रूप में शल्यजी की आत्मा विषयक अवधारणा अत्यन्त मौलिक है और भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन की मान्य अवधारणाओं से न केवल भिन्न बल्कि गहरे अर्थों में विशिष्ट भी है। चेतना जब आत्मचेतन नहीं होती तब वह विषय या वृत्ति से तदात्म रहती है। जब वह मानवीय स्थिति में आत्मचेतन होती है तब वह चेतना का आत्मोन्मुख आद्य और अपूर्व उन्मेष होता है। इस प्रबोधचन्द्रोदय के साथ हमारी दुनिया ही बदल जाती है। शल्यजी के अनुसार चेतना जब आत्मचेतन होती है तब वह विषय का अपने से व्यावर्तन कर अपने को ज्ञाता के रूप में पाती है। अपने को पाने की इस घटना को आत्मसर्जन की प्रथम घटना कहा जा सकता है। इसी के साथ आत्मा आद्यकृत होती है। उपनिषदों के 'स ऐक्षत' के माध्यम से उन्होंने आत्मकृति की बहुत सुन्दर व्याख्या की है। आत्म-सत् विषयक शल्यजी की अवधारणा और भारतीय दर्शनों में प्रचलित आत्म तत्त्व की अवधारणा में अन्तर यह है कि जहाँ शल्यजी के लिए 'मैं हूँ' अपनी भव्यता की घोषणा है वहीं दूसरे के लिए 'मैं हूँ' आत्मा के आद्य और अधिष्ठानभूत अस्तित्व की घोषणा है।

अब शुक्ल जी (पृ. ५०) की समस्या है कि शल्यजी ने व्यावर्तित विषयकल्प सत् को 'निरपेक्ष होना' और आत्म सत् को 'सापेक्ष न होना' कहा है तो यह किस प्रकार के निहित अन्तर का प्रतिपादन है? स्पष्ट है कि सापेक्ष और निरपेक्ष जैसे विशेषण विषयीमूलक हैं और स्वयं विषयी जो आद्यकृत होकर इन विशेषणों को अग्रसारित करता है उसे ही इनसे विशेषीकृत नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि विषयी (आत्मसत्) के व्यावर्तकत्व को भी व्यावर्तित विषय के सन्दर्भ में नहीं समझा जाना चाहिए, क्योंकि वह तो आत्मचेतना का स्वयं क्रियान्वयन है।

इस प्रकार यदि शल्यजी की आत्म सत् की अवधारणा को ठीक से न समझा जाय तो चेतना की सृजनात्मक प्रत्यङ्मुखता का मर्म बहुत सारे प्रश्नों में उलझ जाता है, जैसा कि शुक्ल जी ने अपने विवेचन में बड़ी गम्भीरता से उठाया भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। उदाहरण के लिए आद्यकृत आत्मा की आकस्मिकता का प्रश्न, अपूर्वता का प्रश्न, सर्जना के प्रतिमान का प्रश्न, प्रतिमान, साध्य, पूर्णता की सार्वकालिक अतिक्राम्यता में वृथा सृजनात्मक प्रयासों का प्रश्न। वास्तव में ऐसे प्रश्नों के लिए शल्यजी की विचार-व्यवस्था में कोई अवकाश नहीं है, फिर भी इन्हें दुष्ट प्रश्न भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये सभी प्रश्न उन विचार-तंत्रों से आते हैं जिनके लिए आत्मा एक नित्यसिद्ध भूत-वस्तु है, जहाँ आत्म-प्राप्ति और आत्म-प्रतिष्ठा असत्कार्यात्मक ऊर्ध्वारोहण नहीं बल्कि सत्कार्यात्मक 'प्राप्तस्य प्राप्तिः' है। शल्यजी की विचार-व्यवस्था में प्रत्यङ्मुख चेतना की मूलगामी सर्जनात्मकता कोई 'पूर्ववर्ती' गति नहीं बल्कि 'अन्तवर्ती' अभिगमन है।

इसके बावजूद शुक्ल जी बड़े मनोयोग और सुविचारित रूप से उपर्युक्त प्रश्नों को उठाते हैं। शल्यजी ने भी बड़े धैर्य के साथ उन प्रश्नों को अपने विचार तंत्र में समायोजित करते हुए उनका उत्तर दिया है। दोनों पक्षों को मिलाकर देखने से बहुत सी बातें और अधिक स्पष्ट होती हैं।

इस संकलन में चौथा निबन्ध डॉ. नन्दकिशोर शर्मा के द्वारा लिखित 'शल्यजी के दर्शन में आत्मान्वेषण एवं स्वातंत्र्य' की अवधारणा पर केन्द्रित है। आलेख के आरम्भ में ही लेखक ने शल्यजी के चिन्तन को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए कुछ सुझाव दिये हैं। उनके अनुसार शल्यजी का चिन्तन दर्शन के वैश्वीय परिप्रेक्ष्य में समग्रता को लिए हुए विकसित हुआ है और उनकी भाषा एवं शब्दावली का प्रयोग किसी भी भारतीय अथवा पाश्चात्य दर्शन की परिचित पदावलियों से भिन्न है। इसमें दो राय नहीं कि ये सुझाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु शल्यजी के दर्शन में यह सब कुछ किस रूप में फलित हुआ है, उसे शर्मा जी स्पष्ट नहीं करते। अतएव स्वयं शर्माजी अपने विवेचन के दौरान शल्यजी की भाषा और शब्दावलियों की आर्थी विशिष्टता के प्रति सचेष्ट रह पाये हैं अथवा नहीं, इस पर सन्देह किया जा सकता है। अपने स्पष्टीकरण में शल्यजी (पृ. ३१२) ने इस ओर बहुत ही माकूल तरीके से संकेत किया है। शल्यजी के ही शब्दों में "मैं आत्मा और मोक्षादि के विचार में वस्तुवाचक और देशकाल को पूर्वगृहीत करने वाली पदावली को अस्वीकार करता हूँ, जबकि भाषा की सारी रचना में ये पूर्वगृहीत होते हैं और सब दार्शनिकों की विचार-व्यवस्था में पूर्वगृहीत नहीं होने पर भी ये उनकी पदावली में पूर्वगृहीत जैसे होते हैं। यहाँ मेरे स्पष्टीकरण मुख्यतः इसी पदावली विषयक ही हैं।" अब शर्मा जी ने शल्यजी के आत्मान्वेषण एवं स्वातन्त्र्य को समझने के लिए न केवल वेदान्त की शब्दावली का बहुशः प्रयोग किया है बल्कि उसी विचार-व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विवेचना को आगे बढ़ाया है। यहाँ शर्मा जी के कुछ वाक्यांशों को उद्धृत करना स्थाने होगा—"शल्यजी के अनुसार एक ही तत्त्व की पारमार्थिक सत्ता है तथा वह है चित्। संसार में जो कुछ है वह इसी का पसारा है तथा इस चित् के द्वारा ही समस्त सृष्टि की व्याख्या सम्भव है। विश्व के समस्त मूल्य एवं सत्तायें इसी चित् सत्ता से प्रसूत हैं।" (पृ. ५९)। इसी तरह अपने आलेख के पृ. ६० एवं ६१ पर शर्माजी ने चेतना की इस जगत्-सृष्टि का तथा आत्मा के उसमें बन्धन का क्या स्वरूप है, उसे स्पष्ट करते हुए सांख्य और वेदान्त की दृष्टि को सम्मिलित रूप में रख दिया है और आगे तटस्थ द्रष्टा के रूप में वास्तविक स्वातंत्र्य या मोक्ष को स्पष्ट किया है। मुझे लगता है कि शल्यजी के दर्शन का न तो इस प्रकार अनुवाद किया जा सकता है और न ही उसे समझा जा सकता है। पुनः, इस प्रकार की पंक्तियाँ शल्यजी के अनुसार हों, इसका तो सवाल ही नहीं उठता। तब किस प्रकार उपर्युक्त पंक्तियों को आधार बनाकर सूत्र रूप में शल्यजी को उपनिषद् के 'एकोऽहम् बहुस्याम' के सन्दर्भ में (पृ. ५९) समझने का प्रयास किया गया है, वह समझ से परे है। ऐसा करते हुए न तो औपनिषद और न ही शल्यजी की विचार-व्यवस्था के साथ न्याय किया जा सकता है। विश्व-कर्तृ चेतना, तत्त्व की पारमार्थिक सत्ता, समस्त सृष्टि की व्याख्या, समस्त सत्ताओं का चित्-प्रसूत होना, अनुपहित को उपहित समझना, अविद्या-दृष्टि जैसी अन्यान्य पदावलियों का प्रयोग किसी ईश्वरीय सृष्टि को समझने समझाने के लिए तो उचित हो सकता है परन्तु शल्यजी ने आत्मचेतन चेतना के प्रकाश में जिस आत्म सत् और जगद्भाव तथा आत्म-विलगाव से उबरने के क्रम में आत्मान्वेषण एवं स्वातंत्र्य को देखा है उसके लिए उपर्युक्त शब्दावली का प्रयोग नितान्त भ्रान्तिमूलक है।

वास्तव में शर्मा जी ने शल्यजी के आत्मान्वेषण एवं स्वातंत्र्य की अवधारणा को वेदान्त और सांख्य की सम्मिलित विचार-व्यवस्था के अन्तर्गत देखा है। शल्यजी ने अपने स्पष्टीकरण में इन प्रतिपादानों को लेकर गम्भीर आपत्तियों को भी दर्ज किया है, तब भी इस आलेख से शल्यजी के कुछ एक प्रतिपादनों पर जो प्रकाश पड़ता है वह इस प्रकार है। शर्मा जी ने इस ओर संकेत किया है कि जहाँ विभिन्न वेदान्ती इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत रखते हैं कि मुमुक्षुत्व की पूर्व शर्त क्या है, वहीं अपने होने के अर्थ और गन्तव्य की जिज्ञासा में मुमुक्षुत्व को शल्यजी मानव का सहज स्वभाव मानते हैं। पुनः, शल्यजी मोक्ष-स्थिति को इस प्रकार नहीं देखते जहाँ समस्त प्रपंचात्मक जगद्-वैविध्य का लोप हो जाता है, बल्कि उनके प्रति जो भाव है मोक्षावस्था में उसका नाश होता है, जगत् का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नहीं। अन्त में शर्मा जी ने (पृ. ६६) अपने आलेख का उपसंहार करते हुए कहा है कि "यदि कोई लक्ष्य व्यक्ति को आकर्षित कर सकता है तो वह शल्यजी के जैसा वैयक्तिकता-सहित स्वातंत्र्यानुभव है, न कि अद्वैत वेदान्त जैसा वैयक्तिकता-रहित शुद्ध चैतन्य।" यह मननीय है।

अब जहाँ तक शल्यजी के चिन्तन में आत्मान्वेषण एवं स्वातंत्र्य का प्रश्न है, तो उन्होंने मूल्यतत्त्व-मीमांसा के अन्तिम चार अध्यायों में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना उचित होगा कि उनके चिन्तन में मोक्ष के अर्थ में स्वातंत्र्य कोई परम-पद जैसा निःश्रेयस नहीं है और न ही आत्मा नित्यसिद्ध कोई भूत वस्तु की तरह है, बल्कि प्रतयङ्मुख चेतना की प्रथम कृति 'आत्मा' जगद्भाव से आत्मोन्मुख निवर्तन के क्रम में आत्म-सत्यापन और आत्म-प्रतिष्ठा के द्वारा स्वातन्त्र्य-लाभ करती है। शल्यजी की विचार-व्यवस्था में यह आत्मोन्मुख निवर्तन एक अन्तवर्ती गति है, पूर्ववर्ती नहीं। यह उनके चिन्तन का अत्यन्त मौलिक पक्ष है।

IV

संकलन का पाँचवां निबन्ध 'सत्, अस्तित्व तथा मूल्य' शीर्ष से डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर का है। ये तीनों पद शल्यजी के चिन्तन में अत्यन्त विशिष्ट एवं पारिभाषिक अर्थ वाले हैं और उनकी दर्शन-व्यवस्था से अन्तरंग अन्विति रखते हुए अर्थ-लाभ करते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त तीनों पदों का प्रयोग दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में विभ्रमकारी बहुलता के साथ होता रहा है। ऐसी स्थिति में यह समझना बहुत आवश्यक हो जाता है कि स्वयं शल्यजी ने किस अवधारणात्मक योजना के अन्तर्गत इन पदों का अर्थ-विन्यास किया है। यहाँ हम शल्यजी की कुछ पंक्तियाँ उनकी सत्ताविषयक अन्वीक्षा से उद्धृत करना चाहेंगे जिसमें सत्, अस्तित्व और मूल्य की अन्तर-समायोजित अवधारणा बहुत साफ शब्दों में अभिव्यक्त हुई है—"हमने सत्ता को 'अस्तित्व' और 'वस्तुता' की कोटियों से हटाकर 'भव्य-भाव' की कोटि में अवधारित किया है। अकेला भाव्य कहने में यह दोष है कि तब सत् स्वरूपतः अपूर्ण हो जायेगा, केवल भाव कहने से न अनिष्ट, अव्यवस्था और न्यूनता का कोई अर्थ रहेगा और न मूल्य-पर्येषणा का। एक ओर सत्ता की गरिमा के लिए यह आवश्यक है कि वह भाव्य हो और दूसरी ओर भाव्य के सत् होने के लिए यह आवश्यक है कि वह निरपेक्ष पूर्णभाव हो। यह अन्तर्विरोध ही सत्ता की विपुल पूर्णता का रहस्य है।" इसके आधार पर कहा जा सकता है कि शल्यजी की वैचारिक योजना में 'सत्' अतिक्रामी साध्य है जिसकी सापेक्षता में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'अस्तित्व' अपने को अपने से न्यून पाता है। इस न्यूनता के निवारणार्थ 'अस्तित्व' का सत् की अनुरूपता में क्रियान्वयन अथवा सर्जन ही 'मूल्य' है। अतएव शल्यजी ने अस्तित्व को सत्ता के जीवन में एक आगन्तुक आविर्भाव के रूप में देखा है, उसके एक आयाम या घटक के रूप में नहीं। अस्तित्व को आगन्तुक आविर्भाव कहने का तात्पर्य यह है कि अस्तित्व 'सत्ता' की पूर्णता के लिए अनिवार्य नहीं है लेकिन सत्ता की पूर्णता 'अस्तित्व' के सत्य होने के लिए अनिवार्य है।

अब यदि शल्यजी द्वारा गृहीत सत्, अस्तित्व और मूल्य जैसे पदों का अर्थ उनके विचारों के संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में न समझा जाय तो इस विषय में किसी को भी भ्रान्ति हो सकती है। ऐसी भ्रान्ति के दो रूप हो सकते हैं। पहला यह है कि कोई व्यक्ति सत्, अस्तित्व और मूल्य सम्बन्धी किसी दूसरी अवधारणात्मक योजना को शल्यजी की विचार-व्यवस्था में ढूँढने का प्रयास करेगा अथवा दूसरे रूप में इन पदों के परस्पर पृथक्कृत अर्थ को पूर्वगृहीत कर शल्यजी की विचार-योजना में अर्थ-व्यतिक्रम देखने को उन्मुख होगा। डॉ. भटनागर का आलेख उपर्युक्त दोनों पूर्वाग्रहों के साथ सत्, अस्तित्व और मूल्य के अन्तर-समायोजित अर्थ को शल्यजी की विचार-व्यवस्था में समझने का प्रयास करता है, वास्तविकता जबकि यह है कि शल्यजी का संपूर्ण चिन्तन इन तीन पदों के बहुत भिन्न अर्थ और उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा विभिन्न निष्पत्तियों में बुना गया है। अपने विस्तृत लेखन में उन्होंने इन पदों का प्रयोग इतने सुविचारित रूप से किया है कि उसमें सहसा अर्थ-व्यतिक्रम और अर्थ-व्यभिचार नहीं देखा जा सकता। परन्तु डॉ. भटनागर ने शल्यजी की विचार-व्यवस्था में ऐसे अनेक दोष देखने का प्रयास किया है। यहाँ उन सबका उल्लेख तो सम्भव नहीं है, फिर भी नमूने के तौर पर एक टिप्पणी द्रष्टव्य है। डॉ. भटनागर के अनुसार (पृ. ७०) "जब शल्यजी प्रत्येक कृति का एक मानक स्वीकार करते हैं, उस मानक की दृष्टि से किसी अस्तित्वमान् अवस्था को न्यून या विपन्न कहते हैं, तब उन्हें क्या यह नहीं मानना होगा कि चोरी का भी एक मानक होगा और वस्तुतः कोई भी चोर एक पूर्ण चोर नहीं होता? यहाँ क्या ज्ञेयत्व और मूल्य के बीच प्लाटोनी व्यामोह की प्रतीति नहीं होती?" यह आलोचना ठीक वैसी ही है जैसी निष्काम कर्मयोगी यूं ही किसी का गला काट देने में निष्कामता का सम्पादन समझे। भटनागर साहब यह भूल जाते हैं कि शल्यजी की विचार-व्यवस्था में मूल्य-सम्पादन सदैव आत्मविपन्नता का निवारक होता है जबकि चौर्य कर्म सदैव आत्मविपन्नता को ही बढ़ाने वाला होता है। इसी दृष्टि से शल्यजी ने काम और अर्थ को पुरुषार्थ ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नहीं माना है। पुनः, अतिक्रामी प्रतिमान के सन्दर्भ में यह मानने में क्या हानि है कि कोई चौर्य कर्म पूर्ण नहीं होता, क्या कोई चोर चोरी को ही चुरा सकता है?

इस प्रकार डॉ.भटनागर का यह आलेख आद्योपान्त एक बाह्य आलोचक की छिद्रान्वेषी दृष्टि से लिखा गया है। इसका समर्थन केवल इसी आधार पर किया जा सकता है कि विचार, युक्ति और तर्क में अन्यथात्व सम्भव है। भर्तृहरि ने उचित ही कहा है—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥

वास्तव में यदि 'सत्, अस्तित्व और मूल्य' शीर्षक से इस आलेख को एक बाह्य आलोचक की दृष्टि से नहीं बल्कि शल्यजी के चिन्तन के विवेचन के उद्देश्य से लिखा जाता तो यह लेख बहुत सार्थक बन पाता।

इस संकलन का छठा आलेख हिन्दी साहित्य के समादृत और सृजनधर्मी पुरुष प्रो. रमेशचन्द्र शाह के द्वारा "सृजनशीलता का दर्शन एवं दर्शन की सृजनात्मकता" शीर्षक से लिखा गया है। यह आलेख संकलन की सार्थकता को बढ़ाने वाला है क्योंकि इसमें शल्यजी के विचारों को एक ऐसी समग्रता में रखने का प्रयास किया गया है जिस से इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि किस प्रकार उनके दर्शन में समाज, संस्कृति, इतिहास, साहित्य, कला और विज्ञान इत्यादि को एक ही मूलगामी दृष्टि के विभिन्न कल्पों के रूप में देखा जाना सम्भव हुआ है। वह मूलगामी दृष्टि है—जीवन के संपूर्ण प्रसार को आत्मसर्जन और आत्मसिद्धि के व्यापार के रूप में देखना। कोई भी सर्जना तब तक सर्जनात्मक मूल्य को प्राप्त नहीं कर सकती जब तक वह आत्मसर्जनपूर्वक आत्मप्रतिष्ठापक न हो। विज्ञान और यांत्रिकी के युग में मानवीय ज्ञान की सभी विधाओं में सृजनात्मकता का जो ह्रास देखा जा रहा है उसका यही कारण है कि वे आत्म-प्रतिष्ठापक नहीं रह गयी हैं। इसीलिए आज का मनुष्य अपनी सीमाओं में जकड़ा हुआ, सृजनात्मक मुक्ति से वंचित, अपनी सीमाओं के अतिक्रमण में असमर्थ सा हो गया है। प्रो. शाह ने इसी उद्देश्य से अज्ञेय की पुस्तक भवन्ती से एक उद्धरण दे कर अपने आलेख का आरम्भ किया है और उसकी विवेचना करते हुए दर्शन के धर्म को इन शब्दों में उजागर किया है—"मानव को अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने की प्रेरणा तो साहित्य से मिल सकती है, मिलती ही रही है, किन्तु उतना ही काफी नहीं है। अतिक्रमण करने की क्षमता पर प्रत्यय दिलाना दर्शन का धर्म है, और यदि दर्शन यह काम नहीं करता तो वह दर्शन कहलाने के योग्य नहीं है।" प्रो.शाह दर्शन के इस धर्म को शल्यजी के दर्शन में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पूरे तौर से चरितार्थ होता पाते हैं। उनके अनुसार शल्यजी का दर्शन एक तो मानवीय परिस्थिति से अन्तरंग, अनुभव के विविध आयामों को एक-दूसरे में रिड्यूस किये बिना विवेचित करने वाला, और ऐसा करने के लिए तदर्थ अवधारणाओं की सहायता लिए बिना अन्ततः अतिक्रामी भाव को मनुष्य का परम पर्येष्य प्रतिपादित करने वाला है। अतिक्रमण की इस प्रक्रिया में चेतना (आत्मचेतना) का संपूर्ण व्यापार सृजनमूलक हो जाता है और संपूर्ण सृजन-व्यापार ज्ञान-लक्षी। प्रो. शाह इसे मनुष्य की 'रचनात्मक मुक्ति' पद से अभिहित करते हैं, मात्र मोक्ष या निर्वाण नहीं, जिनका हमारे वेदन-तंत्र और जीवन-बोध से कोई सम्बन्ध नहीं होता। शल्यजी की सृजनात्मकता सम्बन्धी ऐसी दृष्टि अत्यन्त मौलिक जिज्ञासा से उन्मथित दृष्टि है। इसके लिए वेदान्त की पारम्परिक भाषा और पाश्चात्य दर्शन-प्रणालियाँ हमें तैयार नहीं करतीं। यदि ईशोपनिषद् और ऐतरेयादि उपनिषदों में ऐसी दृष्टि मिलती भी है तो उनका वस्तुवाचक पदावलियों में विन्यास इस नवोन्मेषी दीठ को व्यक्त करने में आड़े आ जाता है। इस तरह प्रो. शाह शल्यजी के चिन्तन में औपनिषद दृष्टि की नई सम्भावनाओं को देखते हैं।

शल्यजी की इस दृष्टि के सूत्र उनके चेतना के आत्मचेतन स्वरूप के विवेचन से जुड़े हैं। मानव स्तर पर चेतना के आत्मचेतन होने का आद्यकर्म ही सृजन-कर्म होता है, जिसमें चेतना अपने को देखने-जानने के लिए आत्म-प्रत्यय रूप में अपने द्वितीय का सृजन करती है और तब अपनी इस कृति का अर्थ बूझने का प्रयत्न करती है। इस तरह सभी सर्जन इसी आद्यसर्जन का आत्मक्रियान्वयन और इसी के प्रकारान्तर होते हैं, जिनका लक्ष्य 'स्वरूप के अनुरूप होना' है। शल्यजी की पदावली में, यह आत्म-व्यवहितत्व से आत्म-अव्यवहितत्व की ओर अतिक्रमण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रो. शाह की दृष्टि में शल्यजी का दर्शन वास्तव में सृजनात्मकता और स्वातंत्र्य का दर्शन बनकर सामने आता है जिसमें चेतना की आत्मसिद्धि के उपक्रमों के रूप में मनुष्य के धार्मिक, नैतिक, कलात्मक क्रिया-कलापों की व्याख्या और स्वयं मानवीय सर्जनशीलता की एक सर्वोच्च मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा होती है। अब यहाँ प्रो.शाह को थोड़ी कठिनाई होती है क्योंकि शल्यजी ने सृजन और परिवेश की व्यापक अवधारणात्मक योजना के अन्तर्गत चेतना की आत्मसिद्धि के उपक्रमों में 'विज्ञान' को भी सम्मिलित किया है और वैज्ञानिकों को भी दार्शनिक और कला-सर्जकों की पंगत में बैठा दिया है। प्रो. शाह ने इस बात को गम्भीरता से लिया है और उन्होंने अपने पक्ष में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कीट्स और एलियट, विट्गेन्स्टाइन और हाइडेगर इत्यादि को उद्धृत करते हुए विज्ञान की सृजनात्मकता को दोयम दर्जे का सिद्ध किया है। प्रो. शाह के लिए यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि अपने आलेख के आरम्भ में ही उन्होंने अज्ञेय को साथ लेते हुए यह माना था कि वर्तमान सभ्यता का संकट और मानव मात्र की दीनावस्था यांत्रिकी की विजय का परिणाम है। ऐसी स्थिति में विज्ञान की अवधारणा को मनुष्य की आत्मसिद्धि और आत्मप्रतिष्ठापक उपक्रम के रूप में स्वीकार करना उनके लिए सहज ग्राह्य नहीं हो सकता है। इसका उत्तर देते हुए शल्यजी ने अपने स्पष्टीकरण में विज्ञान और वैज्ञानिक के सृजनात्मक होने के पक्ष को अपनी दृष्टि से बहुत विस्तारपूर्वक विवेचित किया है, जो द्रष्टव्य है।

संकलन का सातवाँ निबन्ध डॉ. के. एल. शर्मा का है जो शल्यजी की मनुष्य की वैकल्पिक अवधारणा को ध्यान में रखकर लिखा गया है। मेरी राय में यह निबन्ध बहुत ही विचारोत्तेजक है और शल्यजी के साथ साथ पीछे के कुछ निबन्धों से भी निर्णायक असहमतियों के साथ सम्वाद स्थापित करने की सामर्थ्य रखता है। विद्वान लेखक आरम्भ में ही यह स्पष्ट करके चलते हैं कि मनुष्य विषयक शल्यजी की दृष्टि अर्थान्वेषी मनुष्य की दृष्टि है। यह दृष्टि आध्यात्मिक मानव-प्रतिमा की तरह न तो अन्तर्वस्तु-शून्य है और न ही समाज वैज्ञानिकों के द्वारा प्रस्तुत की गई दृष्टि की तरह जड़ता को लिए हुए है। परन्तु शर्मा जी का निष्कर्ष चौंकाने वाला है। वे अर्थान्वेषी मनुष्य की शल्यीय अवधारणा को ही अन्तर्वस्तु-शून्य करार देते हैं। उन्हीं के शब्दों में "शल्य जी की मनुष्यत्व की खोज में विशिष्ट व्यक्ति विलीन हो गया है।" (पृ. ९४) अब देखें नन्दकिशोर जी शर्मा जी ने अपने आलेख में यह निष्कर्ष निकाला है कि "यदि कोई लक्ष्य व्यक्ति को आकर्षित कर सकता है तो वह शल्यजी के जैसा वैयक्तिकता-सहित स्वातंत्र्यानुभव है न कि अद्वैत वेदान्त जैसा वैयक्तिकता-रहित शुद्ध चैतन्य।" (पृ. ६६) द्रष्टव्य है कि दोनों विद्वान लेखक शल्यजी को कितने विरोधी निष्कर्षों के साथ समझते हैं। इस विवाद को उन्हें आपस में ही सुलझा लेना चाहिए, अन्यथा शल्यजी को अपने स्पष्टीकरण में इस पर हस्तक्षेप करना चाहिए था। मेरी राय में शल्यजी जब मनुष्यत्व को सभी अहंतामूलक उपाधियों से हटाकर 'आत्मौपम्य' या निरुपाधिक चैतन्य के रूप में देखते हैं तो उन्होंने मनुष्य की वैयक्तिकता को समाप्त करने के लिए ऐसा नहीं किया है। घट का घटत्व में अमूर्तन घट-व्यक्ति का विलीनीकरण नहीं है, बल्कि घट को घटत्व का व्यंजक बनाने के लिए होता है। इसी तरह शल्यजी के चिन्तन में मनुष्य वास्तव में मनुष्यत्व का व्यंजक ही है और अपनी व्यंजना के हर एक स्तर पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उसी ओर अभिगमन करते हुए प्राप्त का निषेध और अप्राप्त की पर्येषणा में सदैव अर्थान्वेषी बना रहता है। इस तरह शल्यजी के विचार में प्रकारान्तर से और बड़े ही मौलिक ढंग से मनुष्य की अर्थान्वेषकता एवं वैयक्तिकता को सुरक्षित रखा गया है।

V

इस संकलन में शल्यजी के भाषा-दर्शन को लेकर दो निबन्ध डॉ. डी. एन. तिवारी एवं डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय के हैं। शल्यजी का भाषा-दर्शन उनके चिन्तन का कोई आनुषंगिक पक्ष न होकर अभिन्न अंग है और इसीलिए 'भाषा' स्वयं उनके दर्शन में चित् के प्रत्ययों में आत्मसृजन का अंग होती है जो मनुष्य के लिए विभिन्न लोकों की सृष्टि करती है। मुकुन्दजी ने ठीक ही कहा है कि शल्य जी भाषा को सत्य में झाँकने का, सत्य के विविध आयामों में नई नई यात्रा करने का साधन मानते हैं। (पृ. ४६) विद्वान द्वय को, जहाँ तक शल्यजी के भाषा-चिन्तन को उद्‌घाटित करने का प्रश्न है, इसमें सफलता नहीं मिली है। तिवारी जी सम्प्रति आधुनिक पीढ़ी में भर्तृहरि के विशेषज्ञ विद्वान् हैं और 'शब्दब्रह्मवाद' की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या के बजाय अर्थमीमांसीय व्याख्या में अधिक रुचि लेते हैं। शल्यजी के लिए भी भाषा चिदर्थ के माध्यम से आत्मसृजन का अंग है और मनुष्य के लिए विभिन्न चिदर्थीय आयामों को आकार देती है। एतदर्थ तिवारी जी का यह कहना उचित है कि एक प्रत्ययवादी (चिदद्वैतवादी) तत्त्वमीमांसक के रूप में शल्यजी के भाषा-दर्शन में अर्थ की समस्या केन्द्रीय महत्त्व रखती है। शल्यजी के भाषा-दर्शन को उनके द्वारा 'चिदर्थाद्वैतवादी' भाषा-चिन्तन कहा जाना भी बहुत ही समीचीन है। परन्तु आश्चर्य है कि इतनी मूलग्राही दृष्टि रखने के बावजूद तिवारी जी की विवेचना में शल्यजी का भाषा-दर्शन इतना उलझ गया है, अथवा उस पर तिवारी जी कृत भर्तृहरि की व्याख्या इस कदर आरोपित हो गई है कि स्वयं शल्यजी का एतद्‌विषयक स्पष्टीकरण भी असहमतियों को व्यक्त करने में ही समाप्त हो जाता है। पाण्डेयजी ने भी संस्कृति और भाषा के सम्बन्ध में शल्यजी के विचारों की छानबीन करने की कोशिश की है लेकिन उनका विवचेन संपूर्ण परिप्रेक्ष्य से अलग-थलग एकदेशीय हो गया है। फिर भी उनकी विवेचना में अन्य व्याख्याओं और अपसिद्धान्तों को निर्मित नहीं किया गया है। वस्तुतः शल्यजी का भाषा-दर्शन जितना रचनात्मक है उतने ही रचनात्मक तरीके से उसे उद्‌घाटित करने की भी जरूरत है। उनका दर्शन तार्किक अनुभववाद के विभिन्न प्रारूपों को पूर्वपक्ष बनाते हुए चिदद्वैतवाद तक जिन जिन सोपानों से होकर गुजरा है उनके भाषा-दर्शन का विकास भी उन्हीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सोपानों में अन्तर्व्याप्त रहते हुए विकसित हुआ है। ऐसी स्थिति में किसी भी व्यक्ति को यह कठिनाई हो सकती है कि शल्यजी का भाषा सम्बन्धी विचार कहाँ भाषा-विश्लेषणवादियों (पाश्चात्य) के विरोध में चरितार्थ हो रहा है और कहाँ 'अवधारणात्मक सापेक्षता' और 'चैत्तसापेक्षता' में फलित हो रहा है तथा किस प्रकार अन्ततः सभी सोपानों से होते हुए और उन्हें समाविष्ट करते हुए चिदर्थाद्वैती भाषा-चिन्तन में पर्यवसित हो रहा है। स्वयं शल्यजी को ही कभी अवकाश होने पर अपने भाषा-दर्शन के क्रमिक विकास को रेखांकित कर देना चाहिए।

VI

इस संकलन में आगे के दो निबन्ध शल्यजी के नैतिकता सम्बन्धी विचार को केन्द्र में रखकर लिखे गये हैं। इसमें प्रो. छायाराय का निबन्ध शल्यजी की एक पुस्तक के एक अध्याय तक सीमित है, जबकि डॉ. भगवती राव ने शल्यजी के पूरे नैतिक चिन्तन को अपने आलेख में आबद्ध करने का प्रयास किया है। जहाँ तक प्रो. राय के निबन्ध की गुणवत्ता का प्रश्न है, तो यह संकलन का सर्वाधिक लम्बा और उतना ही अस्पष्ट आलेख है। प्रथम दृष्ट्या यह बात समझ में नहीं आती कि प्रो. राय ने आख़िर अपने आलेख को **समाज : दार्शनिक परिशीलन** नामक पुस्तक के एक अध्याय 'नैतिकता' तक क्यों सीमित रखा है? शल्यजी के ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ नैतिकता पर विचार किया गया है वे सभी प्रकरण एक-दूसरे से अलग थलग नहीं हैं। वे इतने घुले-मिले हैं कि एक कहाँ से आरम्भ होता है और दूसरा कहाँ खत्म होता है, यह भी रेखांकित करना कठिन ही है। नैतिकता सम्बन्धी शल्यजी के लेखन में ऐसी अन्विति और संगति तत्त्वमीमांसामूलक है। अतः शल्यजी के नैतिक विचारों का सही मूल्यांकन उनके किसी एक ग्रन्थ में प्रसंग प्राप्त विचार को ऐकान्तिक रूप से सन्दर्भ बनाकर नहीं किया जा सकता। ऐसा भी नहीं कि प्रो. राय ने विश्लेषण के लिए जिस निबन्ध को चुना है वह शल्यजी के नैतिक चिन्तन का आधार निबन्ध हो। उससे अधिक आधारभूत लेखन तो **संस्कृति : मानव कर्त्तृत्व की व्याख्या और मूल्यतत्त्वमीमांसा** में प्राप्त होता है। चूँकि प्रो. राय ने अपनी विवेचना को शल्यीय नैतिक चिन्तन के संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में नियोजित नहीं किया है इसलिए उनका निबन्ध सिलसिलेवार टीका-टिप्पणी की शैली में महज इज़ी रीडिंग जैसा हो गया है। उसमें बहुत कुछ ऐसी टिप्पणियों को स्थान मिल गया है जिनके लिए शल्यजी के चिन्तन में कोई स्थान ही नहीं है। यही कारण है कि स्वयं शल्यजी ने अपने स्पष्टीकरण में प्रो. राय के विश्लेषण के प्रति गम्भीर असहमतियों को दर्ज

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किया है। उनका आक्षेप है कि उन्होंने मेरा प्रतिपाद्य कहीं मेरे शब्दों में नहीं रखा है, वह भी अपने ही शब्दों में रखा है। इससे पाठक यह अनुमान भी नहीं कर सकते कि जिस बात की वे आलोचना कर रही हैं वह मैंने कही भी है या नहीं।" (पृ. ३२९) इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रो. राय के आलेख से शल्यजी के नैतिक चिन्तन का कोई ऐसा रूप अथवा पक्ष भी सामने नहीं आता जिसे पाठक आसानी से आत्मसात् कर सके। आलेख के प्रस्तुत रूप से केवल शल्यजी ही समझ सकते हैं कि उनके विचारों को कितना और किस तरह छिन्न-भिन्न करके प्रस्तुत किया गया है।

वास्तव में प्रो. राय ने शल्यजी के नैतिक चिन्तन को उस धरातल से समझने का प्रयास ही नहीं किया है जिस धरातल पर शल्यजी ने उसे खड़ा किया है। शल्यजी का नैतिक चिन्तन इस अर्थ में मूलगामी है कि उन्होंने प्रकृति-विज्ञान और लोकबुद्धि पर आधारित पश्चिमी नैतिक चिन्तन के समानान्तर अपने नैतिक चिन्तन को मानवीय आत्मबोध और आत्मगवेषणा की भूमि पर प्रतिष्ठापित किया है। उनकी मूलभूत दृष्टि को कथंचित् उनके ही शब्दों के सहारे कहा जाय तो मनुष्य जगद्भाव को प्राप्त आत्मचेतन चेतना है और उसमें अस्मिता-बोध प्रतीकतया आत्मतत्त्व को लक्षित करता है। यह आत्मतत्त्व ज्ञान-विषय मात्र नहीं होता, यह वह साध्य भी होता है जिसकी अनुरूपता में अस्मिता को अपने को निरूपित करना होता है, जिसके भाव में अपने को भावित करना होता है। यह बोध अस्मिता को कर्म में रूपान्तरित कर देता है, जो कर्म अपने कर्त्तृत्व और अधिष्ठातृत्व के रूप में इस आत्म-तत्त्व को प्रतिष्ठित कर अस्मिता को निष्पाद्य और नियोज्य बनाता है। निष्पादन और नियोजन की यह विधि ही धर्म-नीति का तत्त्व बनती है। इसे सदसद्-विवेक अथवा आत्म-अनात्म-विवेक भी कहा जा सकता है। आत्मबोध की इस भूमि पर शल्यजी के अनुसार नैतिक होने का एकमात्र अर्थ अपने प्रति सच्चा होना है। यही वह मौलिक मानदण्ड है जिससे अन्य सारे नैतिक प्रतिमान अनुप्राणित और सार्थक होते हैं।

अब शल्यजी की आत्मचेतन चेतना, जिसमें अस्मिता-बोध, कर्त्ता का अर्थ-बोध, रहता है और जिससे वह प्रतीकतया आत्म-तत्त्व के रूप में लक्षित होता है और जो बोध नैतिक बोध का उत्स बनता है, उसे प्रो. राय समकालीन पश्चिमी नीतिशास्त्र के 'पर्सन' के रूप में समझती हैं। (पृ. १२९) यहीं प्रो. राय चूक जाती हैं। पश्चिमी नीतिशास्त्र में 'पर्सन' न्यूनाधिक रूप से एक समाजशास्त्रीय अवधारणा है जबकि 'आत्म-चेतन चेतना' एक चेतनावगाही अवधारणा है। कर्त्ता के स्वरूप से सम्बन्धित ये दो सन्दर्भ नैतिक अर्थापत्तियों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को बहुत गहरे में प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य कर्म करता है और अपने कर्मों के प्रति उत्तरदायी होता है, लेकिन 'पर्सन' को यह उत्तरदायित्व दण्ड और पुरस्कार के अधिकारी के रूप में कहीं बाहर से प्राप्त होता है, जबकि अस्मिताबोध से युक्त आत्म-चेतन चेतना में यह उत्तरदायित्व उसके अन्दर से ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह अपनी क्रियाओं का साक्षी भी होता है। वास्तव में क्रियाओं का साक्षित्व ही क्रिया को कर्म का स्तर प्रदान करता है, जबकि पश्चिमी नीतिशास्त्र की अधिकांश अर्थापत्तियाँ क्रिया से कर्म को सम्यक्तया अलग नहीं कर पाती हैं। शल्यजी की यह दृष्टि अत्यन्त मौलिक दृष्टि प्रतीत होती है कि उत्तरदायित्व केवल अपनी क्रियाओं के साक्षित्व से ही आता है। क्रिया का यह साक्षित्व कर्त्ता से अपने को अपनी आधार प्रतिमा के आदर्श के अनुसार व्याख्यायित करने की मांग करता है, जिस व्याख्या के सन्दर्भ में निरूपित होकर कर्म उचित-अनुचित के विशेषणों से मंडित होता है। अतः शल्यजी की इस मूलभूत दृष्टि को समझे बिना उनके नैतिक चिन्तन के द्विविध पक्षों (नैतिक बोध और नैतिक व्यवहार) तथा उचित-अनुचित पद के वाच्य अर्थ "आत्मा की स्वयं अपने अर्थ के प्रति अनुकूलता-प्रतिकूलता" को ठीक से नहीं समझा जा सकता। प्रो. राय ने जिस निबन्ध को अपने आलेख का विवेच्य विषय बनाया है उसका मूलभूत प्रश्न भी यही है।

डॉ. भगवती राव की बुद्धि शल्यजी की प्रज्ञा से किंचित् संस्कारित है क्योंकि शल्यजी की एक पुस्तक की वे सहलेखिका भी रही हैं। अतएव विद्वान लेखिका अपनी विवेचना में कुछ एक स्थलों पर अपनी असहमतियों को प्रकट करते हुए भी शल्य जी के नैतिक चिन्तन से एक सार्थक सम्वाद स्थापित करने में सफल हुई हैं। डॉ. राव का निबन्ध पूरे संकलन के साफसुथरे निबन्धों में से एक है। जैसा कि शल्यजी ने स्वयं ही अपने स्पष्टीकरण (पृ. ३३२) में इस बात को स्पष्ट किया है कि उनके नैतिक विचार को दो पक्षों, नैतिक बोध और नैतिक व्यवहार में बाँटा जा सकता है। पुनः, उनके नैतिक व्यवहार विषयक चिन्तन के भी दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं—कर्त्तव्य-निर्णय की परिणाम-सापेक्षता और परिस्थिति-सापेक्षता। अब डॉ. राव ने शल्यजी के 'नैतिक बोध' के पक्ष को अच्छे से प्रस्तुत किया है, लेकिन नैतिक निर्णय के सम्बन्ध में कुछ स्थलों पर उन्होंने अपनी असहमति साफ तौर पर प्रकट की है। उदाहरण के लिए डॉ. राव ने क्षमा के नैतिक मूल्य को स्वीकार करते हुए शल्यजी द्वारा प्रतिपादित आत्म-पर-भेद, अर्थात् क्षमा किये जाने की व्यक्ति-सापेक्ष अवधारणा को अस्वीकार किया है। शल्यजी का कहना है कि अन्याय सहने वाला व्यक्ति ही अन्याय-कर्त्ता को क्षमा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कर सकता है, लेकिन यदि अन्याय दूसरे के प्रति किया गया हो तो कोई दूसरा अन्यायकर्त्ता को क्षमा-प्रदान करने का अधिकारी नहीं है, भले ही वह न्यायकर्त्ता की भूमिका में क्यों न हो। यहाँ डॉ. भगवती का आक्षेप यह है कि यदि कर्त्तव्य-निर्णय में सार्वभौमिकता और निरपेक्षता की बात को स्वीकार किया जाये, जैसाकि शल्यजी ने स्वीकारा है, तो प्रकृत प्रसंग में न्यायकर्त्ता कौन है यह विचार उनके अनुसार कर्त्तव्य-निर्णय के लिए अप्रासंगिक हो जाता है। यहाँ शल्यजी से यह भी पूछा जा सकता है कि जब कोई अन्यायकर्त्ता अपने अन्याय के लिए पूरे विश्वास के साथ ईश्वर से क्षमाप्रार्थी होता है और ईश्वर को क्षमा देने का अधिकार भी है, जबकि वह अन्याय का भाजक नहीं होता, तो ईश्वर द्वारा क्षमा-दान की व्याख्या आत्म-पर-भेद के निकष पर किस प्रकार की जा सकती है?

VII

आगे के दो निबन्ध शल्यजी के पुरुषार्थ सम्बन्धी विचार और उनके कला-चिन्तन को लेकर क्रमशः डॉ. योगेश गुप्ता एवं डॉ. सरला कल्ला के द्वारा लिखे गये हैं। डॉ. योगेश गुप्ता अपने आलेख में पुरुषार्थ विषयक शल्यजी के विचारों की समालोचना करते हुए उनसे एतद्विषयक अपने संशोधनात्मक प्रस्ताव को ही वापस लेने का आग्रह करती हुई प्रतीत होती हैं। शल्यजी का प्रस्ताव है कि काम और अर्थ को पुरुषार्थ नहीं स्वीकार किया जाना चाहिए। पुरुषार्थ केवल धर्म और मोक्ष ही हो सकते हैं। पुरुषार्थ होने के लिए आवश्यक है कि वह 'अर्थ' पुरुष की न्यूनता (सम्भवतः न्यूनता से यहाँ आत्म-व्यवधान अभिप्रेत है) का निवारक हो और साथ ही साथ पुरुष की सहज प्रवृत्ति न हो। शायद शल्यजी यह भी स्वीकार करते हैं कि पुरुष की सहज प्रवृत्तियों से सम्बन्धित भाव सदैव आत्म-व्यवधान को बढ़ाने वाले होते हैं। इस पर डॉ. योगेश गुप्ता का आक्षेप है कि भारतीय परम्परा में एक सुचिन्तित अवधारणा पर विचार करते हुए शल्यजी ने काम और अर्थ को संकुचित अर्थ में ग्रहण किया है। परन्तु इस आलेख पर शल्यजी के स्पष्टीकरण से यह विदित होता है कि वास्तव में गुप्ताजी की विवचेना भी उसी ओर संकेत करती है जिस ओर शल्यजी का एतद् विषयक विचार अपने संपूर्ण अभिप्रायों के साथ बाद के लेखों में अग्रसारित हुआ है। शल्यजी और गुप्ताजी दोनों यह स्वीकार कर सकते हैं कि काम और अर्थ प्रेयात्मक पुरुषार्थ हैं जबकि धर्म और मोक्ष श्रेयात्मक पुरुषार्थ की कोटि में आते हैं। यहाँ प्रकृत विवाद का अन्त इस प्रकार होगा कि प्रेयात्मक भाव भी उदात्त होकर श्रेयात्मक भाव में रूपान्तरित हो जाते हैं, परन्तु वास्तव में क्या जिस तरह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रेयात्मक भाव अपनी उदात्त अवस्था में श्रेयात्मक रूपान्तरण पाते हैं उसी तरह श्रेयात्मक भाव अनुदात्त होकर प्रेयात्मक च्युति को प्राप्त होते हैं? ऐसा भी माना जा सकता है कि प्रेयात्मक भावों का उदात्त रूपान्तरण भी साधनभूत ही रहता है, निरपेक्ष श्रेय नहीं। निःश्रेयस् जो निरपेक्ष श्रेय है वह अपनी श्रेयता से कभी च्युत नहीं होता।

डॉ. सरला कल्ला का शल्यजी के अत्यन्त रुचिकर विषय 'कला-चिन्तन' पर एकमात्र निबन्ध है जो निश्चित रूप से विवेच्य विषय के अन्तस् को स्पर्श करता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि शल्यजी के चिन्तन का "आर्किटाइप" अर्थात् मूलाकृति उनके कला-चिन्तन में ही निहित है। इधर कुछ एक व्यक्तियों ने शल्यजी के कला-चिन्तन को लेकर कुछ टीका टिप्पणी भी की है, यदि सरला जी अपने निबन्ध में उन्हें भी सन्दर्भित करतीं तो न केवल शल्यजी के विचारों को, बल्कि स्वयं उनकी समानान्तर स्थापना को भी अकादमिक विस्तार प्राप्त हो सकता था। एतद्विषयक शल्यजी की कठोर लेकिन मौलिक स्थापना यह है कि कला का अन्वेष्य 'सत्य' है, 'सौन्दर्य' नहीं। अब सरलाजी 'कला का अन्वेष्य सौन्दर्य' होने का समर्थन करती हुई प्रतीत होती हैं। यह बात अलग है कि उनकी सधी हुई विवेचना में भी प्रकट रूप से यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि कला का अन्वेष्य सत्ययुक्त सौन्दर्य है अथवा सौन्दर्य ही कला का सत्य है? प्रथमदृष्ट्या एक भावक की दृष्टि से कला का अन्वेष्य तो सौन्दर्य ही प्रतीत होता है, परन्तु इसे भावक का अन्वेष्य भी कहा जा सकता है, स्वयं कला का नहीं। कोई भी कलाकृति भावक के भावन से अपनी स्वतन्त्र इयत्ता भी रखती है। यह भी जरूरी नहीं कि भावक का और कला का अन्वेष्य एक ही हो। शल्यजी के कला-चिन्तन को उनकी तत्त्वमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में देखें तो उनका दृष्टिकोण साफ है। कला व्यंजक होने से अनुकरणात्मक होती है। अब यदि कला व्यंजना है तो कुछ न कुछ उसका व्यंग्य आदर्श भी होना चाहिए जो कलात्मक व्यंजना में आविर्भूत होता है। तब तो यह व्यंजना अपने व्यंग्य को व्यंजित करने की सफलता के अनुसार ही न्यून या अधिक सत्य होगी। अब सौन्दर्य इसी न्यूनाधिक सफल व्यंजना के अन्तर्गत सृष्ट अर्थ राशि है, तो वह कला का अन्वेष्य कैसे हो सकता है? कोई भी कला अपनी व्यंजनात्मकता में जिस आदर्श रूप अथवा सत्य की व्यंजक होती है वास्तव में वही उसका अन्वेष्य हो सकता है। यदि कोई सौन्दर्य को ही आदर्श स्थानीय कल्पित करे तो वहाँ सौन्दर्य की व्यंजना ही कला का साध्य सत्य हो जायेगी। अतः मूल विवाद, वास्तव में,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कला के अन्वेष्य सत्य के स्वरूप को लेकर है जिस पर शल्यजी ने पर्याप्त विस्तार के साथ व्यवस्थित रूप में विचार किया है।

VIII

इस संकलन में आगे के पाँच निबन्ध एक 'स्वतन्त्र अनुच्छेद' की तरह निबद्ध हुए हैं, जिसे शल्यजी के संस्कृति-चिन्तन का अनुच्छेद कहा जा सकता है। शल्यजी के समग्र दर्शन पर आयोजित संगोष्ठी में प्रोफेसर सिद्धेश्वरप्रसाद (तत्कालीन राज्यपाल, त्रिपुरा) प्रोफेसर श्रीप्रकाश दुबे, डॉ. कमलनयन, डॉ. आलोक टण्डन एवं डॉ. राजवीर सिंह शेखावत ने शल्यजी के संस्कृति-चिन्तन को विचार-विमर्श के लिए चुना, यह इस विषय में उनके चिन्तन के महत्त्व, मौलिकता और उसमें लोगों की रुचि को दर्शाता है। अवधेय है कि शल्यजी ने संस्कृति के स्वरूप पर दार्शनिक दृष्टि से, अर्थात् 'संस्कृति दर्शन' पर विचार किया है, सांस्कृतिक जीवन पर नहीं। सांस्कृतिक जीवन की विशिष्टतायें एवं गतिशीलता उनके विचार का विषय नहीं रहा है। इस दृष्टि से शल्यजी का संस्कृति-स्वरूप-चिन्तन प्रो. देवराज तथा प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डे के विचारों से ही नहीं, बल्कि एक सीमा तक श्री अरविन्द के विचारों से भी आगे जाता है। बहुत संक्षेप में, यदि कहा जाय तो शल्यजी की दृष्टि में संस्कृति चैत्त स्तर का अस्तित्व है और उस अस्तित्व का व्यक्तित्व 'जातीय' किस्म का है, जिसका अधिष्ठान वास्तव में कोई भौगोलिक क्षेत्र नहीं, बल्कि लोक मानस होता है। ऐसा होने से ही शल्यजी ने संस्कृति को मनोमय सत्ता के रूप में समाज की आत्मा कहा है। यही संस्कृत्यात्मा जब देहात्मक व्यक्ति-समूह को अपने में अधिष्ठित कर उसके द्वारा एक दैहिक-भौतिक आयाम को धारण करता है तो विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक जीवन के रूप अस्तित्व में आते हैं। तब भी संस्कृत्यात्मा सांस्कृतिक जीवन के परिवर्तनों से नहीं बल्कि परिवर्तनों के बीच स्थिर मूल्य या मूल्यों से पहचाना जाता है। अतएव शल्यजी के संस्कृति-चिन्तन पर विचार करते हुए हमें संस्कृति-दर्शन और सांस्कृतिक जीवन की विचार-सरणी का अन्तर अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। संस्कृति का विशुद्धतम स्वरूप उस पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर ही उभरता है, सांस्कृतिक जीवन में तो न जाने कितने उथल-पुथल होते रहते हैं। इस परिच्छेद में एक-दो आलेखों को छोड़कर शेष सभी सांस्कृतिक जीवन के उथल-पुथल को लेकर ही लिखे गये हैं। या फिर लेखकों ने किसी विशिष्ट संस्कृति के समर्थन में उसकी वर्तमान चिन्ताओं को लेकर शल्यजी से प्रश्न पूछे हैं कि उनके संस्कृति-दर्शन में सांस्कृतिक जीवन के ऐसे पक्षों को कहाँ स्थान प्राप्त होता है? अन्तरसांस्कृतिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संक्रमण से उत्पन्न संकटों और सांस्कृतिक अन्तर्द्वंद्वों को पहचानने वाले दार्शनिक विद्वानों के द्वारा एक संस्कृति-दार्शनिक से ऐसे प्रश्नों का पूछा जाना लाजमी भी है। इस दृष्टि से प्रोफेसर सिद्धेश्वरप्रसाद का आलेख 'संस्कृति : आयाम एवं स्तर' अत्युत्तम होने से अवश्य पठनीय है। यह आलेख अपने आप में एक उदाहरण् प्रस्तुत करता है कि भारतीय संस्कृति के मर्म को समझने वाले एक संस्कृति-अनुरागी व्यक्ति का शल्यजी के संस्कृति-दर्शन से किस प्रकार का सम्वाद हो सकता है। अपने सम्वाद के माध्यम से प्रो. सिद्धेश्वरप्रसाद ने शल्यजी की मिथक सम्बन्धी उद्भावना एवं भारतीय संस्कृति में मनुष्य के प्रस्तुत स्वरूप को लेकर दो त्रुटियों की ओर संकेत किया है जिसे शल्यजी ने सहज भाव से स्वीकार करते हुए तत्काल अपने स्पष्टीकरण में उनका परिमार्जन किया है। यह प्रसंग पूरे संकलन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐपीसोड है। प्रो. दुबे एवं डॉ. टण्डन ने भी सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित कुछ समसामयिक प्रश्नों को उठाया है, जिसे शल्यजी प्रथम दृष्ट्या अपने चिन्तन से सम्बन्धित नहीं मानते हैं, फिर भी अपनी प्रतिक्रिया में उन्होंने उन प्रश्नों पर जैसी मौलिक एवं मर्मभैदी उद्भावना प्रस्तुत की है वैसा अनायास सटीक प्रसंग उपस्थित होने पर ही सम्भव हो पाता है। भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति के मध्य निर्णायक अन्तर विषयक मार्मिक उद्भावना के लिए दोनों विद्वानों ने जो संवेगात्मक प्रसंग शल्यजी के समक्ष प्रकारान्तर से उत्थापित किया है उसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। अन्त में कमलनयन जी एवं राजवीर सिंह जी शेखावत के निबन्धों पर कोई टिप्पणी करना उचित नहीं होगा, क्योंकि पूरे संकलन में इन्हीं दो विद्वानों के निबन्धों को शल्यजी ने सर्वांशतः स्वीकार करते हुए उन्हें स्वयं ही साधुवाद प्रदान किया है।

IX

इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भित एवं यथासम्भव समीक्षित आलेखों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में शल्यजी की पुस्तकों पर समय-समय पर लिखी गई समीक्षाओं को भी संकलित कर दिया गया है। यद्यपि ऐसा किया जाना पुस्तक के सम्पादन की मूलभूत योजना का अंग नहीं रहा होगा तथापि यह 'उत्तर-योग' पूरे सम्पादन को 'उत्तर समृद्धि' प्रदान करने वाला है। ये समीक्षायें अपने समय के जाने माने लोगों (प्रो. एन. के. देवराज, प्रो. नारायण शास्त्री द्रविड़, प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डे, प्रो. राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय, प्रो. रूपरेखा वर्मा, प्रो. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, प्रो. के. एन. शर्मा एवं डॉ. रामाश्रय राय) के द्वारा लिखी गई हैं। समीक्षाओं के आकार-विस्तार एवं गुणवत्ता को हृदयंगमित करने से पता चलता है कि बहुत लम्बे समय तक दर्शन-जगत् शल्यजी की 'आसन्न सिद्धि' को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कितनी गम्भीरता से लेता रहा है। यहाँ तक कि कुछ समीक्षायें तो अंग्रेजी में लिखी गई हैं और उससे शल्यजी के दर्शन का परिचयात्मक कौटुम्बिक परिवेश विस्तृत हुआ है। परन्तु इस प्रसंग में प्रो. याकूब मसीह, प्रो. बसन्तकुमार लाल, प्रो. विद्यानिवास मिश्र एवं प्रो. धर्मेन्द्र गोयल सरीखे मर्मज्ञ विद्वानों की महत्त्वपूर्ण समीक्षाओं को छोड़ देना बहुत ही खलता है। यदि ये समीक्षायें अप्राप्य नहीं थीं तो कम से कम सम्पादकों को यह स्पष्ट कर देना चाहिए था कि आखिर उन्हें क्यों सम्मिलित नहीं किया जा सका?* अब तो एक पाठक यही समझेगा कि या तो वे समीक्षायें संकलन के योग्य नहीं थीं या फिर सम्पादक-द्वय लापरवाह थे। खैर जो भी हो, संकलित समीक्षायें अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और शल्यजी के चिन्तन को पहचानने के न केवल विशिष्ट प्रयास, बल्कि 'मणौवज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः' को चरितार्थ करते हुए महत्त्वपूर्ण सामग्री भी प्रस्तुत करती हैं। यदि यह सामग्री शल्यजी पर लिखने के लिए आमंत्रित विद्वानों को पहले ही प्रदान की जाती तो वे अपनी समझदारी का साझा कर पाते और साथ ही साथ लेखन में भी रचनात्मक दिशा-निर्देश प्राप्त हो सकते थे। ऐसा किया जाना संगोष्ठी के निदेशक के लिए आवश्यक भी था। यह बात अलग है कि कोई भी निबन्धकार स्वयं अपने प्रयासों से शल्यजी पर लिखने से पूर्व इन समीक्षाओं तक नहीं पहुँच पाया है, क्योंकि यदि कोई पहुँचा होता तो कहीं न कहीं उनका उपयोग अपने लेखन में अवश्य करता।

हम यह तो नहीं कह सकते कि शल्यजी पर लिखने के लिए इस प्रकार की सामग्री विपुल मात्रा में उपलब्ध है लेकिन जो भी उपलब्ध है वह अत्यल्प होने से ही अतिविशिष्ट है और उसके उपयोग में कोई हर्ज नहीं था। संकलन के अधिकांश लेखकों ने शल्यजी को ही सीधे-सीधे पढ़कर उन्हें समझने का प्रयास किया है। यह बात एक दृष्टि से अच्छी भी है, लेकिन ऐसा करने से उनके लेखन में एक विशेष प्रकार का विकार भी उत्पन्न हुआ है। लेखकों पर शल्यजी की भाषा इस कदर आरोपित हो गई है मानो उनकी अपनी भाषा का तो यहाँ लोप ही हो गया है। हम शल्यजी को अपनी भाषा में न समझ कर उनको उनकी ही भाषा में समझने लगे। अवधेय है कि शल्यजी को आम तौर पर दुरूह शैली का प्रवाचक और दुरूह भाषा का प्रयोक्ता माना जाता है, परन्तु जब हम शल्यजी पर

---

* ये समीक्षाएं प्राप्त नहीं हो सकीं। प्रो. मसीह तथा प्रो. गोयल की समीक्षाएं दार्शनिक विश्लेषण की थीं तथा प्रो. लाल एवं प्रो. मिश्र की संस्कृति : मानव कर्तृत्व की व्याख्या की। (संपादक)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लिखने का प्रयास करते हैं तो उनकी ही शैली और भाषा का अनायास अनुकरण होने लगता है। यह एक महज़ भाषीय अध्यारोप है जो शल्यजी के सम्बन्ध में हमारी स्वतन्त्र समझदारी को बुहत गहरे प्रभावित करता है। हमें शल्यजी को अपनी भाषा में समझने का प्रयास करना चाहिए। इस दृष्टि से शल्य जी की पुस्तकों पर लिखी गई समीक्षाओं की भाषा एवं संगोष्ठी में प्रस्तुत किये गये आलेखों की भाषा में स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। प्रसंगवश दया जी की एक पंक्ति याद आती है कि "कोई बात सार्थक और समझ में आने लायक, बुद्धिगम्य हो, इसमें यह अनिवार्यतः निहित होता है कि उसका अभिप्राय कई भाषिक रूपों में व्यक्त हो सकना चाहिए, क्योंकि किसी बात की व्याख्या करने का मतलब यही होता है।" अतएव शल्यीय भाषा के अध्यारोपण से मुक्त होकर हमें अपनी-अपनी भाषा में शल्यजी को समझना होगा। इसके लिए शल्यजी विषयक एक साझी समझदारी को विकसित करना बहुत आवश्यक है।

शल्यजी को अपनी दार्शनिक अभिव्यक्ति के लिए बिल्कुल नये तरीके से भाषा को संस्कारित करना पड़ा है। इसलिए ऊपर से देखने पर शल्य जी का दर्शन आपाततः अपनी भाषायी मौलिकता के कारण स्वारस्य के ताने-बाने में बुना हुआ चिन्तन प्रतीत हो सकता है, परन्तु अन्दर से देखने पर वास्तव में वह युक्ति की वज्रशिला पर अधिष्ठित है। एतदर्थ शल्यजी के चिन्तन में स्वज्ञान-व्याघात, स्वक्रिया-व्याघात और स्ववचन-व्याघात दिखाना कोई आसान कार्य नहीं। फिर भी प्रस्तुत पुस्तक के लेखकगण उनके विचार-वितान के सूत्रों, आकर स्थलों, मार्मिक सन्दर्भों एवं गुत्थियों तक पहुँचने में बहुत हद तक सफल हुए हैं। इसमें आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डे, प्रो. सिद्धेश्वरप्रसाद, प्रो. रमेशचन्द्र शाह, डॉ. मुकुन्द लाठ एवं डॉ. प्रियव्रत शुक्ल के निबन्धों को उत्तम कोटि के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनकी वाग्विदग्धता से शल्यजी का चिन्तन विश्लेषित, विवेचित और प्रकाशित हुआ है। डॉ. देवेन्द्रनाथ तिवारी, डॉ. राजवीर सिंह शेखावत, डॉ. कमलनयन, डॉ. सरला कल्ला एवं डॉ. भगवती राव के निबन्धों में शल्यजी के चिन्तन के विविध पक्षों को समझने का सार्थक प्रयास हुआ है। शेष आलेख और उनके लेखक शल्यजी को समझने में उलझने के कारण उनकी ताड़ना के ही भाजक बन पाये हैं। यह भी कोई कम उपलब्धि नहीं है और इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शल्यजी का अति गम्भीर और मौलिक चिन्तन भावी पीढ़ी के लिए दुर्भेद्य एवं दुस्साध्य नहीं रहेगा। अन्त में इस परिसंवाद को आयोजित करने के लिए भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् को धन्यवाद देना समीचीन होगा जिसने अंग्रेजी के प्रति अपने लगभग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऐकांतिक झुकाव के बावजूद केवल हिन्दी में ही लिखने वाले इस महत्त्वपूर्ण दार्शनिक पर इस परिसंवाद का आयोजन किया और फिर इस ग्रंथ को इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित किया।

अम्बिकादत्त शर्मा
उपाचार्य, दर्शन-विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर वि. वि.,
सागर (म.प्र.) ४७० ००३

वैशेषिक दर्शन में पदार्थ-निरूपण, ले. शशिप्रभा कुमार, प्रकाशक— प्रकाशन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९९२, पृ. ६७०, मूल्य रु. ६७०/-

वैशेषिक दर्शन मूल में पदार्थशास्त्र है। पदार्थ-धर्म-मीमांसा ही इस दर्शन का मुख्य कार्य रहा है। वैशेषिक आचार्यों के अनुसार जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अज्ञेय और अनभिधेय है। जो कुछ भी सत् है वह अभिधेय है, प्रमेय है। इस प्रमेय जगत् को वैशेषिक सप्त पदार्थों में वर्गीकृत करते हैं - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। इन पदार्थों की सिद्धि और उनके स्वरूप का निरूपण ही वैशेषिक दर्शन के दो हजार वर्ष से अधिक के इतिहास में आचार्यों का प्रधान उद्देश्य रहा है। वैशेषिकसम्मत इस पदार्थ-सिद्धान्त का "समग्र रूप में ऐतिहासिक एवं वैचारिक अध्ययन" प्रस्तुत करना लेखिका के अनुसार उसके प्रबन्ध **वैशेषिक दर्शन में पदार्थ-निरूपण** का प्रमुख उद्देश्य है। पर जब हम इस ग्रन्थ का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि प्रस्तुत अध्ययन 'ऐतिहासिक' अधिक और 'वैचारिक' कम है। विभिन्न पदार्थों की सिद्धि और उनके स्वरूप-विश्लेषण के क्रम में आचार्यों के मत का ऐतिहासिक विवेचन तो विस्तार से किया गया है जिसके लिए लेखिका निःसन्देह अभिनन्दनीय है, पर आचार्यों द्वारा प्रदत्त युक्तियों को विश्लेषित करने का लेखिका का दावा वस्तुतः वाचिक ही रहा है। वैशेषिकों द्वारा प्रस्तुत पदार्थ-व्यवस्था के आन्तरिक तर्क को उद्‌घाटित करना एक स्वतन्त्र शोध-योजना की अपेक्षा रखता है, इसी कारण किसी एक पुस्तक में एक साथ ही समग्र ऐतिहासिक एवं वैचारिक अध्ययन की प्रस्तुति दुःसाध्य हो जाती है। यहाँ ध्यातव्य है कि वैशेषिक-पदार्थव्यवस्था के इस आन्तरिक तर्क को उद्‌घाटित कर उसके विश्लेषण का प्रयास इधर हाल के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्षों में प्रकाशित कुछ नवीन रचनाओं में किया गया है, जिनमें हाल्बफास की पुस्तक ऑन बीइंग एण्ड व्हाट देयर इज़ तथा प्रो. पाहि की रचना वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

समीक्ष्य पुस्तक की प्रधान विशेषता इस बात में है कि इसमें वैशेषिक सम्प्रदाय के बहुचर्चित प्राचीन आचार्यों के मत को ही आधार नहीं बनाया गया है अपितु मध्यकालिक न्यायवैशेषिक आचार्यों, जैसे चन्द्रमति, वल्लभाचार्य, भासर्वज्ञ, वादिवागीश्वर, उमापति उपाध्याय, रघुनाथ शिरोमणि, शंकर मिश्र, दिनकर भट्टाचार्य, रामरुद्र, नृसिंहदेव, वेणीदत्त और इसके अतिरिक्त अन्य दूसरे अपेक्षाकृत अल्पचर्चित रचनाकारों की रचनाओं का उपयोग भी किया गया है।

समीक्ष्य ग्रन्थ पन्द्रह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में वैशेषिक दर्शन का सामान्य परिचय देते हुए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अध्याय में 'पदार्थ' के प्रत्यय को स्पष्ट करते हुए उसके स्वरूप एवं संख्या पर विचार किया गया है। तृतीय अध्याय में प्रथम पदार्थ द्रव्य की सिद्धि करते हुए उसके लक्षण, स्वरूप एवं प्रकार पर प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ अध्याय में चार अनित्य द्रव्यों—पृथिवी, जल, तेज और वायु का; पंचम अध्याय में आकाश, काल और दिक् इन तीन नित्य द्रव्यों का; और षष्ठ अध्याय में आत्मा एवं मन का विवेचन करते हुए इन द्रव्यों के स्वरूप, लक्षण एवं गुणों पर प्रकाश डाला गया है। सप्तम अध्याय से नवम् अध्याय तक 'गुण' पदार्थ का विशेष रूप से विवेचन करते हुए उसके स्वरूप, लक्षण एवं विभिन्न प्रकारों का विवेचन किया गया है। दशम अध्याय से चतुर्दश अध्याय तक में क्रमशः 'कर्म', 'सामान्य', 'विशेष', 'समवाय' तथा 'अभाव' का विवेचन प्राप्त होता है। अन्तिम अध्याय में सम्पूर्ण प्रबन्ध की उपलब्धियों एवं निष्कर्षों को समाहारेन प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट रूप में वैशेषिक परमाणुवाद एव सृष्टि-संहार-प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण विवेचन प्राप्त होता है।

वैशेषिक दर्शन का मुख्य उद्देश्य उन मूल तत्त्वों की खोज व विवेचना है जो इस जगत् के मूल में हैं। इन तत्त्वों को वैशेषिक आचार्य कुछ निश्चित 'कोटियों' में वर्गीकृत करते हैं जिन्हें वे पदार्थ कहते हैं। ये पदार्थ वैशेषिक सूत्रकार के अनुसार छह हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। पश्चात्कालीन आचार्य इस पदार्थव्यवस्था में सातवें पदार्थ के रूप में अभाव की गणना करते हैं। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठता है कि वैशेषिकों का पदार्थ से तात्पर्य किस तरह की कोटियों से है—बौद्धिक विचार की कोटियों से अथवा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वस्तुओं की कोटियों से? लेखिका के अनुसार नैयायिकों के पदार्थ जहाँ विचार की कोटियाँ हैं वैशेषिकों के अनुसार पदार्थ वास्तविक कोटियाँ हैं। एक दृष्टि से यह निरूपण उचित जान पड़ते हुए भी पूरी तरह से सही नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: इस सम्बन्ध में वैशेषिक आचार्यों की स्थिति पूरी तरह स्पष्ट नहीं है। जब वैशेषिक आचार्य 'समवाय' और यहाँ तक कि 'सामान्य' के सन्दर्भ में एकत्व का प्रयोग करते हैं तो वस्तुत: उनका तात्पर्य इनको तार्किक कोटि के रूप में लेने से ही होता है। दूसरी ओर जब वे इन पदार्थों के संख्यात्मक प्रकार-भेद की चर्चा करने लगते हैं तो स्पष्ट है कि वे पदार्थ को वस्तुओं की कोटि के रूप में ले रहे होते हैं। अब तात्त्विक और तार्किक कोटि के बीच के सूक्ष्म भेद का स्पष्ट बोध न होने के कारण ही आचार्यगण जहाँ एक ओर घटत्व, पटत्व, द्रव्यत्व, गुणत्व जैसे स्पष्टत: अनेक संख्यक सामान्यों को एक कह डालते हैं वहीं दूसरी ओर समवाय के नानात्व को लेकर रघुनाथ शिरोमणि जैसे प्रखर तार्किक आचार्य महत्त्वपूर्ण तर्कोपस्थापन करने लगते हैं। लेखिका की सहमति इनके साथ है। पर देखा जाए तो इन विवादों के बीच कहीं न कहीं कोटियों को लेकर होने वाला उपर्युक्त किस्म का कोटि-भ्रम ही है। 'पदार्थ परिकल्पना' शीर्षक अध्याय में लेखिका ने पदार्थ के लक्षण, स्वरूप और संख्या पर विस्तार से विचार किया है। पदार्थ का सही लक्षण क्या हो सकता है? लेखिका निष्कर्ष प्रस्तुत करती हुई कहती हैं—"इस प्रकार जो सत्, ज्ञेय तथा अभिधेय है वही पदार्थ है।" (पृ. २३) जैसा कि हम जानते हैं, प्रशस्तपाद ने बताया था कि अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व ये पदार्थ के तीन लक्षण हैं—षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि। अब पदार्थ के उपर्युक्त लक्षण को लेकर कई तरह की समस्याएँ उठती हैं। प्रथम समस्या तो यही उठती है कि यदि 'अभाव' भी पदार्थ है तो 'अभाव' के असत् होने से उस पर सत्, ज्ञेय और अभिधेय रूप जो त्रिविध लक्षण की बात की जाती है वह इस पर घटता नहीं है। इन्हीं कारणों से शिवादित्य आदि पदार्थ की परिभाषा करते हैं—'प्रमितिविषया: पदार्था:', और बाद के आचार्य अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व को ही पदार्थ का लक्षण बताते हैं। दूसरी ओर द्रव्य का निर्दुष्ट लक्षण बताते हुए लेखिका कहती है—"इस प्रकार हम देखते हैं कि समवायिकारण द्रव्य है"—द्रव्य का यह लक्षण अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति—दोनों से रहित, अत: सर्वथा परिष्कृत लक्षण कहा जा सकता है।—निश्चित है कि द्रव्य की यही परिभाषा न केवल सर्वाधिक उपयुक्त है अपितु एकमात्र यही एक ऐसा समग्र एवं निर्दोष लक्षण है जो वैशेषिक दर्शन द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।" लेखिका का यह मत दुराग्रहपूर्ण प्रतीत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होता है। सूत्रकार कणाद ने द्रव्य को लक्षित करते हुए कहा है कि द्रव्य वह है जिसमें गुण व कर्म रहते हैं तथा जो समवायिकारण है—क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् (वै.सू. - १/१/१५)। अब कणादप्रोक्त लक्षण के बदले लेखिका द्वारा तर्कभाषाकार द्वारा इंगित लक्षण "तत्र समवायिकारणं द्रव्यम्" को वरीयता देने का आधार समझ में नहीं आता। वस्तुतः द्रव्य की सिद्धि का आधार ही यह है कि गुण या कर्म निराधार नहीं रह सकते; उनका कोई न कोई आश्रय अवश्य होगा। वह आश्रय ही द्रव्य है। 'क्रियागुणवत्' पद लक्षण में व्यर्थ नहीं है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि उसके द्वारा निर्दिष्ट सात पदार्थों में जगत् के सभी ज्ञेय तथा अभिधेय तत्त्वों का सन्तोषजनक वर्गीकरण हो जाता है। अर्थात् जगत् के स्वरूप-विश्लेषण में आने वाले सभी तत्त्व वैशेषिककृत पदार्थ-वर्गीकरण में आ जाते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आखिर पदार्थ सात ही क्यों हैं, उनसे कम या अधिक क्यों नहीं हैं? इस सम्बन्ध में विद्वानों का कहना है कि कणाद ने **वैशेषिकसूत्र**-1/1/4 में स्पष्टतः छह पदार्थों का निर्देश किया है। किन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि उक्त सूत्र प्रक्षिप्त है। वस्तुतः कणाद ने द्रव्य, गुण और कर्म तीन को ही 'अर्थ' संज्ञा से अभिहित किया है, अतः उनको अभिमत तो तीन ही पदार्थ हैं। बाद में प्रशस्तपाद ने छह पदार्थों का पहली बार निर्देश किया। इस धारणा को **वैशेषिकसूत्र** की दो अन्य व्याख्याओं ('चन्द्रानन्द वृत्ति' तथा 'अज्ञातकर्तृक व्याख्या') के प्रकाशन से बल मिलता है जिनमें उक्त सूत्र की व्याख्या नहीं मिलती है। पदार्थों की संख्या को लेकर उठे उपर्युक्त विवाद को लेखिका ने जिस गम्भीरता से प्रस्तुत किया है उसके लिए वे निश्चय ही अभिनन्दन की पात्र हैं। इसी प्रसङ्ग में लेखिका शक्ति, सादृश्य, संख्या या अन्य सम्भावित पदार्थों के पदार्थत्व को लेकर होने वाले वैशेषिकसम्मत विचारों की ऐतिहासिक और तार्किक विवेचना करते हुए यह देखने का प्रयास करती हैं कि अन्ततः सप्तपदार्थवाद का सिद्धान्त कैसे वैशेषिक के सिद्धान्तमत के रूप में प्रतिष्ठित हो पाया? उपर्युक्त क्रम में ही लेखिका वैशेषिक दर्शन के सप्तपदार्थवाद के क्रमिक विकास को फ्राउवाल्नर की दृष्टि से समझाने का प्रयास करती हैं। इसके अनुसार वैशेषिक दर्शन का सप्तपदार्थवाद वस्तुतः एक लम्बे काल-प्रवाह में हुए वैचारिक चिन्तन के क्रमिक विकास का परिणाम है। सातों पदार्थों में द्रव्य, गुण और कर्म प्रधान हैं। "आरम्भ में केवल तीन ही पदार्थ—द्रव्य, गुण एवं कर्म—स्वीकार किये गये होंगे। यह तथ्य इससे भी प्रमाणित होता है कि वैशेषिक सूत्रों के प्रथम अध्याय में प्रथम आह्निक के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अन्तर्गत केवल इन्हीं तीन पदार्थों का वर्णन है जबकि सामान्य एवं विशेष का उनसे पृथक् द्वितीय आह्निक में निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त इन्हीं तीन पदार्थों को सूत्रकार ने 'अर्थ' संज्ञा से अभिहित किया है। वैशेषिक-पदार्थ-सिद्धान्त के विकास की द्वितीय अवस्था में क्रमशः सामान्य, विशेष एवं समवाय—इन तीनों पदार्थों का जन्म हुआ होगा।" अन्ततः दसवीं शताब्दी में 'अभाव' को सप्तम पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया। इस प्रकार लेखिका वैशेषिक सप्तपदार्थवाद के क्रमिक विकास को निरूपित करने का प्रयास करती हैं। अब लेखिका के साथ समस्या यह है कि वह वैचारिक आद्यता को क़ालिक अर्थ में देखने का प्रयास करती हैं। यह सही है कि वैशेषिक पदार्थव्यवस्था को बहुतलीय व्यवस्था के रूप में लेना चाहिये, जिसके प्रथम तल में द्रव्य,गुण और कर्म हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से कभी ऐसा रहा होगा कि तीन ही पदार्थ माने जाते रहे होंगे। वैशेषिक पदार्थव्यवस्था के ऐतिहासिक विकास के निरूपण पर जोर न देकर यदि लेखिका ने उसके वैचारिक विकास पर अपना ध्यान केन्द्रित किया होता तो उससे प्रथम पर भी अधिक प्रकाश पड़ता। वस्तुतः वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था विभिन्न पदार्थों का ऐसा सुगठित तन्त्र है जिसमें एक भी पदार्थ अनावश्यक या व्यर्थ नहीं है। विभिन्न पदार्थ आपस में मिलकर एक ऐसे संकुल का निर्माण करते हैं जिसमें हर पदार्थ अन्य दूसरे पदार्थ-स्तम्भों को थामे हुए है। पदार्थों की इस परस्पर आश्रयता को ध्यान में रखने के कारण तथा वैशेषिक सप्तपदार्थवाद को एक सम्पूर्ण तन्त्र मानने के कारण ही वैशेषिक दार्शनिक व्योमशिवाचार्य, श्रीधराचार्य, उदयनाचार्य, वल्लभ, पद्मनाभ मिश्र, शंकर मिश्र प्रभृति परम्परागत आचार्य यह मानने को तैयार ही नहीं होते हैं कि सप्तपदार्थवाद का सिद्धान्त सूत्रकार अथवा भाष्यकार को अभिमत नहीं था और यह कि अभाव जैसे पदार्थ बाद में आचार्यों द्वारा पदार्थ-व्यवस्था में सम्मिलित किये गये थे।

धर्मि-धर्म भेद की आधारभूत मान्यता पर टिके वैशेषिक वस्तुवाद के लिए गुण और कर्म से पृथक् उसके आश्रयरूप द्रव्य की सिद्धि में विशेष परेशानी नहीं होती है। गुण या कर्म निराधार नहीं रह सकते। उनका कोई न कोई आश्रय अवश्य होगा। वह आश्रय ही द्रव्य है। रूप, रंग, शब्द आदि गुण तथा चलना, फिरना आदि क्रियायें निराधार नहीं हो सकतीं। कणाद जब 'क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्' कहते हैं तो वस्तुतः वे यही कहना चाहते हैं। इससे पूर्व बौद्धों का कहना था कि गुणों से पृथक् 'द्रव्य' की सत्ता को, धर्म से पृथक् धर्मी को मानने की कोई ज़रूरत नहीं है। इस पर वैशेषिक आचार्यों का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कहना है कि धर्मी धर्म से, अवयवी अवयव से भिन्न होता है। अतः गुण और क्रिया से भिन्न तदाश्रयरूप द्रव्य की सत्ता निर्विवाद है। देखा जाए तो गुणों या क्रियाओं के आश्रय रूप में गुणी या क्रियावान् की पृथक् सत्ता को मानने वाले वे ही हो सकते हैं जो 'सामान्य' को किसी न किसी रूप में मानते हों। बौद्धों के लिए विशिष्ट अनुभूतियाँ ही सत्य हैं, इन अनुभूतियों के संघात से भिन्न कोई 'वस्तु' नहीं है। अब जब घट, पटादि वस्तु ही संघात हैं तो फिर घटत्व, पटत्व तो निरे विकल्प ही ठहरते हैं। लेकिन यह सहज रूप से देखा जा सकता है कि जब तक हम 'घटत्व', 'पटत्व' जैसे सामान्यों को नहीं मानेंगे—और बौद्ध इस तरह के अनेकानुगत सामान्य को नहीं मानते—तब तक घट, पट की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जा सकती। अस्तु, वैशेषिक पदार्थव्यवस्था में 'सामान्य' एक स्वतन्त्र पदार्थ तो है ही, किन्तु जो महत्त्वपूर्ण है वह यह कि इसका स्वतन्त्र पदार्थत्व ही 'द्रव्य' की सिद्धि कां प्रधान कारणभूत बनता है। पुनश्च, यदि द्रव्य अनेक हैं, जैसाकि बहुत्ववादी वैशेषिक मानते हैं, तो फिर एक तरफ जहाँ एक ही तरह के विभिन्न द्रव्यों की निजता को व्याख्यायित करने के लिए 'विशेष' नामक पदार्थ को मानना जरूरी हो जाता है वहीं नानात्व और भेद की सिद्धि के लिए 'अभाव' को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में मानना अनिवार्य हो जाता है। यही नहीं, देखा जाए तो 'सामान्य' की भी सत्ता 'अभाव' की पूर्वापेक्षा रखती है। विभिन्न घटों में रहने वाला 'घटत्व', पटों में रहने वाले 'पटत्व' से भिन्न है। इसी तरह 'पटत्व' का घट में सर्वथा अभाव है। अब ये सब बातें 'अभाव' की पूर्वापेक्षा रखती हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था के विभिन्न पदार्थ किस प्रकार परस्पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और एक का अस्तित्व अन्यों पर निर्भर करता है। जहाँ तक 'समवाय' का प्रश्न है, तो डी.एन. शास्त्री का उल्लेख करते हुए लेखिका ठीक ही कहती हैं कि वैशेषिक-पदार्थव्यवस्था के ढाँचे में यदि विभिन्न पदार्थ ईंटों का काम करते हैं तो समवाय गारे का। "समवाय गुण, कर्म, सामान्य एवं विशेष को द्रव्य के साथ जोड़ता है। इसके अतिरिक्त यह सामान्य को गुणों तथा कर्मों से भी सम्बद्ध करता है एवं अवयवी को अवयवों से भी।"

यहाँ 'समवाय' के नानात्व के सम्बन्ध में किंचित् विशेष चर्चा अपेक्षित होगी। आधाराधेय भाव से स्थित दो अयुतसिद्ध पदार्थों के सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। अर्थात् अवयव और अवयवी का, जाति और व्यक्ति का, गुण और गुणी का, क्रिया और क्रियावान् का तथा नित्य द्रव्य एवं विशेष पदार्थ का परस्पर सम्बन्ध ही समवाय है। वैशेषिक दर्शन की परम्परा में समवाय को एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कहा गया है। समवाय के इस एकत्व के विरोध में रघुनाथ शिरोमणि ने अपनी पुस्तक पदार्थ-तत्त्वनिरूपण में कुछ महत्त्वपूर्ण आपत्तियाँ उठायी हैं। देखा जाए तो इन आपत्तियों को पूर्व में ही पूर्वपक्ष के रूप में उठाकर वैशेषिक आचार्यों ने उनके यथासम्भव खण्डन का प्रयास किया था। इन आपत्तियों का सार यह है कि यदि समवाय को एक ही माना जाएगा तो वायु में जिस प्रकार स्पर्श का समवाय होगा उसी तरह उसमें रूप का भी समवाय मानना होगा, क्योंकि स्पर्श-समवाय एवं रूप-समवाय तो एक ही हैं। कुछ एक अपवादों को छोड़कर सम्पूर्ण पुस्तक में परम्परागत मत का समर्थन करने वाली लेखिका यहाँ आश्चर्यजनक रूप से रघुनाथ के समवाय-नानात्व का समर्थन करती है। लेखिका कहती है— "उल्लेखनीय है कि समवाय को एक सिद्ध करने के लिए वैशेषिक आचार्यों ने एक के बाद एक युक्तियाँ प्रस्तुत कीं किन्तु वे मात्र शाब्दिक क्रीड़ा प्रतीत होती हैं। वस्तुतः इस सम्बन्ध में रघुनाथ शिरोमणि की मान्यता—"समवाय नाना हैं" ही लाघवपूर्ण होने से ग्राह्यतर है। (पृ. ६०६) अब 'एक समवाय' के विरोध में समवाय-नानात्व के मत का प्रतिपादन करने वाले रघुनाथ के मत में लेखिका कैसे 'लाघव' पाती हैं और 'लाघव' का अर्थ वह क्या लेती हैं, इसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। फिर जैसा कि वै.सू.-७/२/२८ में कणाद कहते हैं, या उसी क्रम में प्रशस्तपाद कहते हैं कि जिस तरह द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाली सत्ता-जाति एक है उसी तरह द्रव्यादि अनुयोगियों में रहने वाला समवाय भला एक क्यों नहीं हो सकता? समवाय में एकत्व रहने पर भी द्रव्य में गुणत्व का, गुण में कर्मत्व का सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि द्रव्य में ही द्रव्यत्व को अभिव्यक्त करने की शक्ति है, गुणादि में नहीं। इसी तरह गुण तथा कर्म में ही क्रमशः गुणत्व तथा कर्मत्व को अभिव्यक्त करने की शक्ति है, अन्यत्र नहीं। अस्तु, समवाय-नानात्व को लेकर प्रस्तुत लेखिका का विचार पर्याप्त दार्शनिक विमर्श की अपेक्षा रखता है तथा विश्लेषणोपरान्त कतई सुग्राह्य प्रतीत नहीं होता।

अन्ततः, अवयवों के संघात के अतिरिक्त अवयवी तत्त्व की स्वीकृति वैशेषिक पदार्थव्यवस्था की आधारभूत मान्यता है। न्यायवैशेषिक के इस अवयव-अवयवी सिद्धान्त को व्यवस्थित एवं परिष्कृत रूप प्रदान करने में परमाणुवाद की विशिष्ट भूमिका है। वास्तव में वैशेषिक दर्शन में परमाणुवाद का महत्त्व सृष्टिविषयक सिद्धान्त मात्र के रूप में न होकर कहीं गहरा है। इसीलिए लेखिका अपनी पुस्तक के परिशिष्ट में परमाणुवाद पर अलग से विवेचन प्रस्तुत करती है। अब समवायविवेचन-स्थल की तरह यहाँ भी लेखिका का प्रयास

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

रघुनाथ शिरोमणि के मत से अविचारित सहानुभूति के कारण एकांगी होकर रह जाता है। लेखिका की टिप्पणी द्रष्टव्य है—"अन्यत्र उनकी सम्मति अत्यन्त मौलिक होने पर भी मान्य प्रतीत होती है, जैसे परमाणु की अपेक्षा त्र्यणुक में ही अवयवधारा का विश्राम स्वीकार करने में अथवा समवाय को अनेक मानने में।" (पृ. ६००) जाहिर है कि लेखिका त्र्यणुक में ही अवयवधारा का विश्राम मानकर परमाणुवाद को खारिज कर देती है, दूसरी ओर वह 'परमाणुवाद' शीर्षक परिशिष्ट में परमाणुवाद के पक्ष में कसीदे भी गढ़ती है। (देखें, पृ. ६३०) अब यह स्थिति स्पष्टतः ग्रन्थ में अपसिद्धान्त को सिद्ध करती है। इस तरह के अपसिद्धान्त ग्रन्थ में अन्यत्र भी मिलते हैं। कुछ अन्य बातें भी खटकती हैं। उदाहरणतः ग्रन्थ के पुरोवाक् (पृ. १X) में लिखित लेखिका की यह पंक्ति द्रष्टव्य है—"वैशेषिक दर्शन के पदार्थों में सर्वप्रथम द्रव्य है, जिसे आधुनिक शब्दावली में 'वस्तुतत्त्व' या 'मैटर' कहा जाता है।" अब द्रव्य को 'मैटर' लेखिका किस अर्थ में कहती है, यह विशेष व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

उपर्युक्त ढंग की कुछ सामान्य और निर्णायक स्थलों पर गम्भीर त्रुटियों के बावजूद यह पुस्तक वैशेषिक पदार्थव्यवस्था को एकत्र रूप में प्रस्तुत करने के कारण भारतीय दर्शन के जिज्ञासुओं, विशेषकर वैशेषिक दर्शन के अध्येताओं के लिए उपयोगी है। यह पुस्तक डॉ. शशिप्रभा कुमार के दिल्ली विश्वविद्यालय में पीएच.डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का ग्रन्थाकार रूप में प्रकाशन है जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है। इस प्रकाशन के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय निश्चय ही साधुवाद का पात्र है।

आनन्द मिश्र,
उपाचार्य, दर्शन विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी - २२१ ००२

जैन भारती, (अनेकान्त विशेषांक), वर्ष ५०, अंक ३-४-५, मार्च-मई, २००२, मानद सम्पादक—शुभू पटवा एवं मानद सह-सम्पादक बच्छराज दूगड़, प्रकाशक जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर - ३३४ ४०१ (राज.), पृ.सं. १५६, मूल्य रु. १००.००

जैन भारती के इस अंक में कुछ प्रबुद्ध एवं उच्च कोटि के विद्वानों, विचारकों एवं दार्शनिकों के भी लेख संकलित हैं। लेखों की विषय-वस्तु प्रतिपाद्य विषय एवं स्वरूप के आधार पर पत्रिका को तीन खण्डों—विमर्श,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनुभूति और शीलन—में विभाजित किया गया है। तीनों खण्डों में अनेकान्त से सम्बन्धित २४ लेख हैं तथा एक कहानी, एक कविता और एक बोध कथन है। यहाँ समीक्षा के लिए आठ लेखकों—श्री यशदेव शल्य, श्री तुषार सरकार, आचार्य श्री महाप्रज्ञ, प्रो. दयाकृष्ण, प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद, प्रो. सागरमल जेन, डॉ. बच्छराज दूगड़ और डॉ. राजकुमारी जैन के लेख ही लिये जा रहे हैं।

सबसे पहले मैं श्री यशदेव जी शल्य के लेख को लूँगा क्योंकि उनका लेख ऐसा है जो अनेकान्तवाद के विकास की अगली कड़ी है तथा जैन विद्वानों के लिए बड़ी चुनौती। शल्य जी ने अपने लेख 'अनेकान्त और स्याद्वाद: कैसे हो अस्पष्टता का निवारण' में चार प्रमुख विद्वानों—आचार्य समन्तभद्र, श्री माधवाचार्य, प्रो. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त और आचार्य श्री महाप्रज्ञ—के मतों को उद्धृत करते हुए उनके मत से उत्पन्न होने वाली अस्पष्टता को दिखलाते हुए उसका निराकरण करने का प्रयास किया है। किन्तु देखने की बात यह है कि जैन विद्वान् एवं विचारक उसे कहाँ तक स्वीकार करते हैं!

शल्य जी का यह कहना पूर्णतः सही है कि अनेकान्त और स्याद्वाद के सिद्धान्तों को लेकर जैन और जैनेतर विद्वानों में गहरी अस्पष्टता है। ध्यातव्य है कि शल्य जी ने यहाँ अनेकान्तवाद और स्याद्वाद में जिस अस्पष्टता की ओर ध्यान दिलाया है उसके अतिरिक्त उनमें और भी अस्पष्टताएँ विद्यमान हैं। उनकी चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। प्रो. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के मत को प्रस्तुत करते हुए शल्य जी ने उनके मत में एक व्यामिश्र दिखलाया है। इस सन्दर्भ में शल्य जी लिखते हैं—"यहाँ वस्तु-स्वरूप और उसके ज्ञान को व्यामिश्रित किया जा रहा है। 'कलश किस प्रकार का द्रव्य है' यह उसके स्वरूप के सम्बन्ध में कथन है, किन्तु 'वह किस-किस प्रकार का द्रव्य नहीं है' यह उसके स्वरूप विषयक बात नहीं है, यह उसके ज्ञान विषयक या कथन विषयक बात है।" (पृ. २२-२३) यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जैन-दर्शन के अनुसार द्रव्य/वस्तु का स्वरूप 'विधि-निषेध' रूप है। अच्छा होता यदि यहाँ द्रव्य या वस्तु के 'विधि-निषेध' स्वरूप और 'द्वयात्मकता' को ध्यान में रखकर व्यामिश्र की बात की गई होती।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ के मत को प्रस्तुत करते हुए शल्य जी कहते हैं कि यदि उनके मत को लिया जाय तब, प्रथमतः, अनेकान्तवाद के अनेक प्रकार होंगे, जैसे—"न्याय-वैशेषिक प्रकार का, सांख्यीय प्रकार का, बौद्ध प्रकार का आदि।" (पृ. २३) शल्य जी के इस मत से मैं, एक सीमा तक, सहमत नहीं हूँ;

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

क्योंकि जैन दर्शन में 'आपेक्षिकता' वस्तुगत तथा ज्ञानगत या कथनगत दोनों ही है।

दूसरे, शल्य जी कहते हैं कि जब अनेकान्तवाद को तत्त्वमीमांसीय कहते हैं तब वह ज्ञानमीमांसीय अर्थ में अनैकान्तिक दृष्टि नहीं है, ऐकान्तिक दृष्टि ही है। (पृ. २३) शल्य जी का यह मत युक्तिसंगत है।

तीसरे, शल्य जी लिखते हैं—'यह अस्पष्टता तब और बढ़ जाती है जब वे अनेकान्त को ही नहीं स्याद्वाद और नय को भी तत्त्वमीमांसीय कहते हैं ... ..और मेलेनोविस के अनुसार इसे सांख्यिकीय भी कहते हैं।' (पृ. २३) शल्य जी का यह कहना ठीक ही है क्योंकि स्याद्वाद और नयवाद दोनों ही न तो तत्त्वमीमांसीय हैं और न ही स्याद्वाद का सांख्यिकी से कोई सम्बन्ध है। भले ही महाप्रज्ञ जी इन्हें तत्त्वमीमांसीय कहते हों, लेकिन इन्हें भाषायी और ज्ञानमीमांसीय सन्दर्भ में ही समझना चाहिए।

ध्यातव्य है शल्य जी ने महाप्रज्ञ जी के मत की आलोचना करते हुए 'द्रव्य' और 'वस्तु' में भेद किया है। किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या जिस अर्थ में शल्य जी ने यह भेद किया है उसी अर्थ में यह भेद, 'द्रव्य' और और 'वस्तु' का भेद, जैन दर्शन में सम्भव है? इस प्रश्न पर जैन विद्वानों को विचार करना चाहिए।

स्याद्वाद के सम्बन्ध में पृ. २४ पर शल्य जी ने जो चर्चा की है वह महत्त्वपूर्ण है तथा जैन विद्वानों को चाहिए कि वे उसे गम्भीरता से लें और अपने दर्शन एवं सिद्धान्तों के विकास तथा सुधार में उसकी भूमिका सुनिश्चित करें।

पृ. २५ पर शल्य जी ने जैन प्रतिपादन की असमीचीनता और स्थूलता दिखलाते हुए जैन तत्त्वमीमांसा पर, विशेषतः वस्तु-स्वरूप और वस्तु-सत्ता पर कड़ा प्रहार किया है, जिसका जवाब जैन विद्वानों की तरफ से दिया जाना चाहिए। दूसरे, इस प्रश्न पर विचार होना चाहिए कि यदि शल्य जी के इन विचारों को स्वीकार कर लिया जाय तब जैन तत्त्वमीमांसा और अनेकान्तवाद का स्वरूप क्या होगा? अन्य शब्दों में, क्या शल्य जी के इन विचारों में और जैन तत्त्वमीमांसा तथा अनेकान्तवाद में कहीं कोई तालमेल बिठाया जा सकता है? शल्य जी के अनुसार स्याद्वाद के सम्बन्ध में भी जैन विद्वानों में मतभेद एवं अस्पष्टता है, क्योंकि जहाँ एक ओर आचार्य समन्तभद्र इसे 'क्रमभावि ज्ञान' कहते हैं वहीं दूसरी ओर आचार्य श्री महाप्रज्ञ इसे 'प्रतिपादन-शैली' कहते हैं। इस सन्दर्भ में शल्य जी के विचार युक्तिसंगत हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अन्त में एक बात यह कहना चाहूँगा कि यदि शल्य जी भगवती सूत्र आदि ग्रन्थों को आधार बनाकर यह लेख लिखते तब शायद इस लेख का स्वरूप भिन्न होता।

श्री तुशार सरकार ने अपने लेख 'अनेकान्त और स्याद्वाद: एक विमर्श' में अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों एवं समस्याओं पर शास्त्र सम्मत और समसामयिक विचारकों के विचारों की मीमांसा प्रस्तुत करते हुए अपने विचार एवं समाधान प्रस्तुत किये हैं तथा अपने समाधान के विरोध में उठने वाली नयी समस्याओं की उद्भावना करते हुए उनके समाधान भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इससे लेखक की विद्वत्ता और वैचारिक खुलापन स्पष्ट परिलक्षित होता है। लेखक के इस निबन्ध को अनेकान्तवाद के विकास की एक कड़ी के रूप में देखा जा सकता है।

लेखक ने लेख के आरम्भ में अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और नयवाद क्या कहते हैं, अर्थात् इनके अर्थ स्पष्ट करते हुए इनके सम्बन्ध में दो मौलिक प्रश्नों—इन तीनों के बीच क्या भेद है? ये तीनों भिन्न होने पर तार्किक दृष्टि से परस्पर किस प्रकार जुड़े हुए हैं?—विचार किया है तथा अनेकान्तवाद को 'सत्तामूलक', स्याद्वाद को 'तार्किक' और नयवाद को 'ज्ञानात्मक' अवधारणाओं के रूप में प्रतिपादित किया है। इसके समर्थन में कुछ ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये हैं।

अनेकान्त के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न के—कि एक ही वस्तु में ऊपर से विरोधी दिखने वाले सत्त्व और असत्त्व जैसे अनन्त धर्म कैसे रह सकते हैं?—सम्भावित उत्तरों की मीमांसा करते हुए तथा उनके तार्किक दोषों को दिखलाते हुए इस प्रश्न के उत्तर में लेखक ने, जैसा कि स्वयं जैन भी मानते हैं, 'सापेक्षता' को माना है। (पृ. ३१) किन्तु स्वयं लेखक ने ऊपर पृ. २९ पर सापेक्षता में तार्किक दोष दिखलाये हैं। लेखक के ये विचार अंतर्विरोधग्रस्त हैं तथा लेखक ने 'सापेक्षता' को उसी अर्थ में नहीं लिया है जिस अर्थ में यहाँ लिया जाना चाहिए था। दूसरे, लेखक ने इस प्रश्न के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण उत्तरों की उपेक्षा की है। उनमें से एक उत्तर है—'अविनाभाव सम्बन्ध'।

सप्तभंगी नय में विकल्पों की संख्या सात ही क्यों होती है, कम या अधिक क्यों नहीं, तथा अन्य सब विकल्प सात विकल्पों में ही समाविष्ट क्यों हो जाते हैं? इस प्रश्न पर विचार करते हुए लेखक ने लिखा है कि इस प्रश्न का जैन विचारकों ने कोई स्पष्ट और युक्तिसंगत उत्तर नहीं दिया है तथा बी.के. मतिलाल ने जो उत्तर दिया है उसमें भी अस्पष्टता है। लेखक का यह आक्षेप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ठीक नहीं है, क्योंकि भगवती सूत्र आदि ग्रन्थों को देखें तो हम पाते हैं कि वहाँ विकल्पों की संख्यां निश्चित नहीं है। दूसरे, कुन्दकुन्द और उसके पश्चात् के दार्शनिकों ने जो सात भंग माने हैं तथा सात भंग होने के पीछे जो तर्क दिये हैं वे एक सीमा तक ठीक हैं। किन्तु स्वयं लेखक ने जो 'चतुर्भंगी' का समाधान दिया है वह जैन सप्तभंगी पर लागू नहीं होता है और न ही उसमें कोई नवीनता है; क्योंकि इस विधि को अन्य भारतीय विचारक पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं। अच्छा होता यदि लेखक भगवती सूत्र आदि ग्रन्थों को ध्यान में रखते हुए भंगों की संख्या की बात करते।

अनेकान्त के सन्दर्भ में लेखक ने तीन अन्य प्रश्नों पर—१. क्या अनेकान्तवाद से संशयवाद फलित होता है? २. जैनों के अनुसार वदतोव्याघात की क्या कसौटी है? ३. जैन मत की दृष्टि से किसी दार्शनिक विवाद में क्या दृष्टि समीचीन होगी, जबकि वह यह मानता है कि कोई भी दृष्टि सर्वथा मिथ्या नहीं है?—विचार किया है। इनमें से अन्तिम दो महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु लेखक का यह वक्तव्य कि, 'द्वादशारनयचक्र में मल्लवादी ने मेरी ही दृष्टि का अनुसरण किया है' (पृ. ३७) ठीक नहीं है।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने अपने लेख 'अनेकान्त और नए समाज की रचना' में यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि आज जिस नये मनुष्य, नये समाज और नये विश्व की कल्पना की जा रही है उसकी रचना केवल अनेकान्तवाद और अनेकान्त दृष्टि के आधार पर ही हो सकती है; क्योंकि अनेकान्तवाद और अनेकान्त दृष्टि ही एकमात्र सम्यक् है, अन्य सब मिथ्या।'' (पृ. ११) आचार्य श्री महाप्रज्ञ का मानना है कि आज के समाज में जो बुराइयाँ हैं, या सामाजिक समस्याएँ हैं, जिनके कारण समाज विखण्डित हो रहा है, उसका मूल कारण है ऐकान्तिक दृष्टि, निरपेक्षवाद, समन्वय का अभाव और प्रतिपक्ष का नकार। अतः नये समाज की रचना के लिए यह आवश्यक है कि उसका आधारभूत दर्शन सम्यक् दर्शन अनेकान्तवाद हो और दृष्टि अनैकान्तिक। समाज में, सामाजिक जीवन में, विचार में और व्यवहार में सापेक्षता, समन्वय और सह-अस्तित्व हो।'' (पृ. १२) इस सन्दर्भ में लेखक ने लिखा है कि 'सामाजिक समस्याएँ भी अनेक होती हैं। उन्हें एकांगी दृष्टिकोण से नहीं सुलझाया जा सकता। सामाजिक जीवन सम्बन्धों का जीवन है। सम्बन्धों की व्याख्या सापेक्ष दृष्टि से ही की जा सकती है। ... .. समानता, विषमता, गरीबी, अमीरी—ये सब प्रश्न हैं। इनका अनेकान्त दृष्टि से समीक्षात्मक पर्यालोचन करना आवश्यक है। भाषा, प्रान्त, स्वायत्तता, जातीयता, साम्प्रदायिक कट्टरता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आदि राष्ट्र की प्रमुख समस्याएँ हैं। उनका समाधान इसलिए नहीं हो रहा है कि समस्या सुलझाने वालों का दृष्टिकोण सापेक्ष और समन्वयमूलक नहीं है। ... ... युग की अपेक्षा है, विश्व शांति की अपेक्षा है कि परिवार, समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के प्रमुख व्यक्तियों का दृष्टिकोण अनेकान्तमय होना चाहिए। उन्हें सापेक्षता, समन्वय, सह-अस्तित्व और स्वतन्त्रता का प्रशिक्षण लेना चाहिए। यह प्रशिक्षण विश्वशांति की समस्याओं को सुलझाने का एक सर्वोत्तम उपाय होगा।" (पृ. २९)

लेखक यद्यपि अनेकान्त और अनेकान्त दृष्टि की बात कर रहे हैं किन्तु स्वयं लेखक के ये विचार ऐकान्तिक एवं विरोधाभास पूर्ण हैं, क्योंकि लेखक यह मानता है कि अनेकान्तवाद ही सम्यक् दर्शन है और ऐकान्तिकवाद मिथ्या दर्शन। (पृ. ११) लेखक अपने इस विचार को ऐकान्तिक रूप से सत्य मानता है।

लेखक ने सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए जिस अनेकान्त और अनेकान्त दृष्टि का सहारा लिया है उससे उन समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं है, क्योंकि उन समस्याओं के मूल में जो कारण हैं वे कुछ और हैं। दूसरे, अनेकान्त की भी अपनी सीमा है जिसकी ओर लेखक ने कोई संकेत तक नहीं किया है।

प्रो. दयादकृष्ण ने अपने लेख 'अनेकान्त : कुछ समस्याएँ' में कुछ ऐसे विचार एवं समस्याएँ प्रस्तुत की हैं जो अनेकान्तवाद को और अधिक स्पष्ट करने तथा उसके विकास में सहयोग प्रदान करती हैं, अर्थात् अनेकान्त की समझ को और गहरा बनाते हैं। दयाजी का मानना है कि अनेकान्त पर 'स्वतन्त्र' विचार तभी सम्भव है जब उसे उसके इतिहास से मुक्त किया जा सके तथा उसमें परिवर्तन की सम्भावना को स्वीकार किया जा सके। (पृ. ४४) दया जी इन दोनों मान्यताओं को लेकर ही अनेकान्त पर विचार कर रहे हैं। किन्तु प्रथमतः, किसी भी ऐसी अवधारणा को, जिसका कि इतिहास होता है, उसे उसके इतिहास से पूर्णतः मुक्त नहीं किया जा सकता; क्योंकि कम से कम उस अवधारणा का जो रूप है वह तो उसके इतिहास से ही प्राप्त होता है। दूसरे, किसी अवधारणा को उसके इतिहास से वही विचारक मुक्त कर सकेता है या उसके इतिहास से मुक्त होकर स्वतन्त्र विचार कर सकता है जो उसके इतिहास का ज्ञाता होता है। किन्तु इस प्रकार के विचारकों में दया जी की गिनती, कम से कम अनेकान्त के सन्दर्भ में तो, नहीं ही की जा सकती।

अनेकान्त की सत्य और असत्य के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए दया जी ने उसमें एक अन्तर्विरोध दिखाया है, जिसे दयाजी के अनुसार, जैन विद्वान् :

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनेकान्त को मानने वाले : देखने से इन्कार करते हैं। वह अन्तर्विरोध यह है कि जैन विद्वानों की मान्यता है कि किसी बात के बारे में यह कहना कि वह 'सत्य' है या 'असत्य' है—एकांगी है। अब, इस मान्यता को स्वीकार करें तब इस मान्यता के अनुसार जैनों की बात भी न तो 'सत्य' कही जा सकती है और न 'असत्य', जबकि वे अपनी बात को पूर्णतः सत्य मानते हैं। इस सन्दर्भ में दयाजी ने लिखा है कि—कोई बात या तो 'सच' होती है या 'झूठ', और अगर वह सच हो तो 'झूठ' नहीं हो सकती और अगर झूठ हो तो सच नहीं हो सकती। अनेकान्त के दावेदार आमतौर पर इस मान्यता का खण्डन करते प्रतीत होते हैं और ऐसा कहने की कोशिश करते हैं कि किसी भी बात के बारे में यह कहना कि वह 'सच' है या 'झूठ' है—एकांगी है। क्योंकि अगर हम ध्यान से देखें तो वही बात सच भी दिखेगी और झूठ भी। लेकिन स्वयं अनेकान्त को मानने वाले इस बात को स्वीकार करने से कतराएंगे कि अगर उनकी यह बात ठीक है तो उनकी बात भी न तो सच कही जा सकती है, न झूठ, और न दोनों ही। अपनी बात को तो वे पूर्णतः सच मान कर ही बात करते हैं और इस अन्तर्विरोध को देखने से इन्कार करते हैं।" (पृ. ४५) दया जी द्वारा दिखलाया गया यह अन्तर्विरोध पूर्णतः युक्तिसंगत है और अनेकान्तवाद तथा जैन विद्वानों का यह एक मुख्य दोष है।

दया जी ने उन विषयों के बारे में, जिनका 'देश-काल' से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता है, जैसे गणितीय सिद्धान्त या विषय, प्रश्न उठाया है कि उनके बारे में क्या अनेकान्तता होगी? इसके जवाब में दया जी लिखते हैं कि उनमें किसी प्रकार की अनेकान्तता सम्भव नहीं है, उनके विषय में अनेकान्त की बात करने का कोई अर्थ नहीं है। (पृ. ४६) दया जी का यह विचार युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि पहले, अनेकान्त की एक सीमा है, वह है 'द्रव्य'। दूसरे, अनेकान्त की चर्चा उन विषयों के बारे में भी, जिनका देश-काल से कोई सम्बन्ध नहीं है, की जाती है और की जा सकती है। स्वयं देश-काल के सन्दर्भ में अनेकान्त की चर्चा की जाती है। इसी तरह गणितीय सिद्धान्तों के सन्दर्भ में अनेकान्त की बात की जा सकती है।

स्याद्वाद की चर्चा करते हुए दया जी ने लिखा है कि 'स्याद्' को वाक्य के पहले लगाने से उस वाक्य की अनैकान्तिकता समाप्त हो जाती है। (पृ. ४६) दया जी का यह कहना गलत है, क्योंकि 'स्याद्' शब्द अनैकान्तिकता को समाप्त नहीं करता है बल्कि उसकी अनैकान्तिकता को दर्शाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्याद्वाद के सन्दर्भ में दया जी ने एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि हम जो बात 'स्याद्' लगाकर कहते हैं उस बात को 'स्याद्' लगाकर दूसरी विधि से भी कहा जा सकता है। यह दूसरी विधि क्या हो सकती है, इस बारे में दयाजी ने कुछ स्पष्ट नहीं किया है। अच्छा होता यदि दया जी इस दूसरी विधि के बारे में भी कुछ प्रकाश डालते। फिर भी, जैन विद्वानों को इस दूसरी वैकल्पिक विधि के बारे में विचार करना चाहिए।

दयाजी का यह भी आक्षेप है कि जैन दार्शनिक परम्परा में विधि-निषेधात्मक वाक्यों के सन्दर्भ में अनेकान्त की चर्चा नहीं की गई है, 'क्या करना चाहिए' और 'क्या नहीं करना चाहिए', क्या इसके बारे में भी अनैकान्तिकता हो सकती है? उनका यह आक्षेप निराधार है। क्योंकि इस सन्दर्भ में चर्चा भगवती सूत्र में की गई है। सम्भवतः दया जी ने भगवती सूत्र का अध्ययन नहीं किया है। यदि उसका अध्ययन किया होता तब शायद वे यह आक्षेप नहीं करते।

प्रो. सिद्धेश्वरप्रसाद ने यद्यपि अपने लेख का नाम 'अनेकान्त दर्शन: ऊर्ध्वारोहण की साधना' रखा है लेकिन लेख में 'अनेकान्त' की चर्चा बहुत कम हुई है और वेदान्त तथा विज्ञान की चर्चा अधिक।

लेखक ने अनेकान्त को समझने या ग्राह्य बनाने के उद्देश्य से तथा अपने मत के प्रतिपादन के लिए लेख के आरम्भ में एक लम्बी भूमिका लिखी है। जैसाकि स्वयं लेखक ने लिखा है—"वैदिक युग के वातावरण की उदारता, व्यापकता और सत्य को उसकी पूर्णता में ग्रहण करने की दृष्टि को ध्यान में रखे बिना अनेकान्त दर्शन को नहीं समझा जा सकता।" (पृ. ३९) लेखक का यह कहना ठीक ही है, क्योंकि किसी सिद्धान्त को उसके वैचारिक परिवेश में ही समझा जा सकता है।

अनेकान्त को सिद्धेश्वरप्रसाद जी 'ऊर्ध्वारोहण की साधना' के रूप में देखते हैं। इस सन्दर्भ में लेखक लिखते हैं—"आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर की अनुभूति के मूल से सतह तक ऊर्ध्वारोहण की साधना ही अनेकान्त दर्शन है। अतः ऊर्ध्वारोहण में जिस विवेचन से सहायता प्राप्त होती है, जो लेखन या प्रवचन इसके लिए प्रेरित करता है, वही अनेकान्त र्दान की प्रक्रिया है।" (पृ. ४१) अनेकान्त को ऊर्ध्वारोहण की साधना के रूप में तब देख सकते हैं जब ऊर्ध्वारोहण को ज्ञान की व्यापकता एवं पूर्णता के रूप में देखें। किन्तु अनेकान्त ऊर्ध्वारोहण की साधना मात्र ही नहीं है। दूसरे, लेखक ने अनेकान्त को ऊर्ध्वारोहण की साधना के रूप में परिभाषित कर जैन और अजैन, एकान्त और अनेकान्त का भेद ही समाप्त कर दिया है; क्योंकि लेखक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रथमतः यह मानते हैं कि जो लेखन या प्रवचन ऊर्ध्वारोहण के लिए भी प्रेरित करता है वही अनेकान्त दर्शन की प्रक्रिया है।" (पृ. ४१) ऐसी स्थिति में प्रेरित करने वाले जैनेतर लेखन या प्रवचन को भी अनेकान्त की प्रक्रिया ही मानना होगा। दूसरे, लेखक यह भी मानते हैं कि ऊर्ध्वारोहण की जो अन्तिम स्थिति है वह जैन तथा वैदिक दोनों दर्शनों में एक ही है। जैन उसे केवली तथा सर्वज्ञ की स्थिति कहते हैं ओर वैदिक दर्शन उसे आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्म साक्षात्कार कहते हैं। (पृ. ११) लेखक का यह मत युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि ऐसी बात होती तो दोनों दर्शनों की तत्त्वमीमांसा में कोई भेद नहीं होता।

जैन दर्शन और वैदिक अद्वैत दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए लेखक ने यह माना है कि—"वैदिक अद्वैत में अनेकान्त और जैन अनेकान्त में वैदिक अद्वैत अन्तर्निहित है" (पृ. ३९) तथा ये दोनों दर्शन एक-दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि परस्पर पूरक हैं। लेखक लिखते हैं, "... ..केन्द्र से परिधि की ओर गमन में अनेकान्त के दर्शन होते हैं, परिधि से केन्द्र की ओर गमन का पर्यवसान अद्वैत में होता है। अतः अद्वैत और अनेकान्त परस्पर विरोधी नहीं बल्कि परस्पर पूरक हैं; वैसे ही जैसे सामाजिक स्तर पर ब्राह्मण और श्रमण परस्पर एक-दूसरे के पूरक रहे हैं।" (पृ. ४१) लेखक के ये विचार महत्त्वपूर्ण हैं तथा इन पर और अधिक विचार होना चाहिए। किन्तु ध्यातव्य है लेखक के उपर्युक्त विचारों एवं लेख को पढ़ने से ऐसा लगता है कि लेखक का प्रयास अनेकान्त को वैदिक अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत समाहित करने का रहा है, जिसका औचित्य सन्देहास्पद है।

विज्ञान और अनेकान्त का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए लेखक कहते हैं कि विज्ञान ने जिन ज्ञान-कणों को बिखेर दिया है, रिक्तता पैदा कर दी है उस रिक्तता की पूर्ति अनेकान्त कर सकता है। लेखक लिखते हैं, "... ... विज्ञान ने ज्ञान के विद्युत्कणों को बिखेर दिया है, क्योंकि वह बहिर्मुखी है और उसकी पद्धति विश्लेषणात्मक है। ... ..चूँकि अनेकान्त दर्शन यथार्थमूलक रहा है और विज्ञान की दृष्टि भी यथार्थमूलक है इसलिए अनेकान्त दर्शन की न्याय-पद्धति नये सामंजस्य और समन्वय की वर्तमान रिक्तता की पूर्ति कर सकती है।" (पृ. ४३) लेखक के ये विचार एक सीमा तक ही ठीक हो सकते हैं, पूर्णतः ठीक नहीं; क्योंकि पहले, जिन ज्ञान-कणों में आज जो रिक्तता पैदा हुई है उसका जिम्मेदार मात्र विज्ञान ही नहीं है बल्कि अन्य कारण विज्ञान से अधिक उत्तरदायी हैं। दूसरे, जिस रिक्तता को विज्ञान ने पैदा किया है उसे 'अनेकान्त' तो क्या कोई दार्शनिक सिद्धान्त ऐसा नहीं है जो पाटने में समर्थ हो। विज्ञान के द्वारा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उत्पन्न रिक्तता की पूर्ति विज्ञान से ही सम्भव होगी जो उसके सही विकास और उपयोग से भी सम्भव हो सकती है और उसके पतन से भी।

प्रो. सागरमल जैन ने अपने निबन्ध 'अनेकान्त : सत्य की खोज की व्यावहारिक पद्धति' में अनेकान्त को सत्य की खोज की एक व्यावहारिक पद्धति के रूप में परिभाषित करते हुए यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि व्यवहार या जीवन के विभिन्न पक्षों, जैसे धर्म, राजनीति, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, प्रबन्धशास्त्र, पारिवारिक जीवन आदि में उसका उपयोग करके उन विभिन्न क्षेत्रों में उठने वाली समस्याओं का निराकरण किया जा सकता है।

ध्यातव्य है कि लेखक ने यद्यपि अनेकान्त को सत्य की खोज की एक व्यावहारिक पद्धति माना है किन्तु लेख के प्रारम्भिक भाग के सामान्य अवलोकन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं लेखक ने अनेकान्त को कहीं दार्शनिक मन्तव्यों, मान्यताओं और स्थापनाओं को व्याख्यायित करने की पद्धति माना है, कहीं सत्य कैसे अनुभूत होता है यह बताने की विधि माना है और कहीं व्यावहारिक दर्शन तथा सिद्धान्त माना है। ये विरोधाभासी स्थापनाएँ हैं। दूसरे, लेखक ने लिखा है कि अनेकान्त एक दार्शनिक सिद्धान्त होने की अपेक्षा दार्शनिक मन्तव्यों, मान्यताओं और स्थापनाओं को उनके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने की पद्धति विशेष है।" (पृ. ६४) लेखक के ये विचार नितान्त गलत हैं, क्योंकि अनेकान्त दार्शनिक मन्तव्यों आदि को व्याख्यायित करने की पद्धति नहीं है, बल्कि या तो तत्त्व विषयक या ज्ञान विषयक सिद्धान्त है। लेखक ने अनेकान्त को 'सत्य' की खोज की एक व्यावहारिक पद्धति भी माना है, किन्तु 'सत्य' क्या है या 'सत्य' को यहाँ किस अर्थ में लिया गया है, यह नहीं बताया है। अच्छा होता यदि लेखक ने अपनी 'सत्य' की अवधारणा को भी स्पष्ट कर दिया होता।

अनेकान्त के कार्यों का वर्णन करते हुए लेखक नें लिखा है, 'वस्तुतः अनेकान्त का कार्य त्रिविध है—प्रथम, यह विभिन्न ऐकान्तिक अवधारणाओं के गुण-दोषों की तार्किक समीक्षा करता है। दूसरे, यह उस समीक्षा में यह देखता है कि इस अवधारणा में जो सत्यांश है वह किस अपेक्षा से है। तीसरे, वह उन सापेक्ष सत्यांशों के आधार पर एकान्तवादों को समन्वित करता है।" (पृ. ६४ व ६७) इन तीनों कार्यों में से यदि हम प्रथम तथा तीसरे कार्य को लें तब ये दोनों ही युक्तिसंगत नहीं हैं, क्योंकि अनेकान्त के द्वारा ऐकान्तिक अवधारणाओं की तार्किक समीक्षा सम्भव नहीं है। ऐकान्तिक अवधारणाएँ जैनेतर सिद्धान्त हैं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जिनकी तार्किक समीक्षा के अपने मानदण्ड एवं विधियाँ हैं। तीसरे कार्य को लें, वह अनेकान्त पर लागू ही नहीं होता है, क्योंकि अनेकान्त और समन्वय दोनों भिन्न हैं। समन्वय अनेकान्त नहीं है। अनेकान्त के द्वारा प्रतिपादित दो प्रतिपक्षी धर्मों के युग्म का और समन्वय के द्वारा प्रतिपादित दो धर्मों के युग्म का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। अनेकान्त के द्वारा प्रतिपादित युग्म के दो प्रतिपक्षी धर्मों में अविनाभाव सम्बन्ध होता है जबकि समन्वय के द्वारा प्रतिपादित युग्म के दो धर्मों में अविनाभाव सम्बन्ध नहीं होता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, लेखक ने यह भी प्रतिपादित किया है कि व्यवहार के विभिन्न पक्षों, जैसे—राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक, प्रबन्ध आदि में अनेकान्त का उपयोग कर उन विभिन्न क्षेत्रों में उठने वाली समस्याओं का निराकरण किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में लेखक ने लिखा है—"अनेकान्त दृष्टि का मूल आधार व्यवहार की समस्याओं का निराकरण करना है।" (पृ. ६७) धार्मिक सहिष्णुता के सन्दर्भ में लिखा है— "अनेकान्त धर्मों की साध्यपरक मूलभूत एकता और साधनपरक अनेकता को इंगित करता है।" (पृ. ६९) राजनैतिक सन्दर्भ में लिखा है, "राजनीतिक जीवन में स्याद्वाद के दो व्यावहारिक फलित : वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय, अत्यन्त उपादेय हैं।" "संसदीय प्रजातन्त्र वस्तुतः राजनीतिक स्याद्वाद है।" (पृ. ७०) मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में लिखा है, "मानव व्यक्तित्व भी बहुआयामी है और उसे सही प्रकार से समझने के लिए अनेकान्त दृष्टि आवश्यक है।" (पृ. ७१) प्रबन्ध के सन्दर्भ में लिखा है, "पारस्परिक सामंजस्य में ही समग्र गुणवत्ता का विकास होता है। अनेकान्त दृष्टि व्यक्तित्त्व के उन विभिन्न गुणों या पक्षों और उनके पारस्परिक सामंजस्य को समझने का आधार है। ... ..अनेकान्त दृष्टि के आधार पर ही सम्पूर्ण प्रबन्धशास्त्र अवस्थित है।" (पृ. ७१-७२) आदि। 'वस्तुतः अनेकान्त दृष्टि ही एक ऐसी दृष्टि है जो मानव के समग्र कल्याण की दिशा में हमें अग्रसर कर सकती है।' (पृ. ७३) लेखक के ये विचार ऐकान्तिक और अन्तर्विरोधी हैं। ऐकान्तिक इसलिए कि लेखक के अनुसार ये विचार सत्य ही हैं, आंशिक सत्य नहीं। दूसरे, इन व्यावहारिक समस्याओं के समाधान का यही एक मात्र उपाय नहीं है, जैसा कि लेखक मानते हैं, बल्कि अन्य उपाय भी हैं, जो अनेकान्त से कहीं अधिक कारगर हैं।

डॉ. बच्छराज दूगड़ के लेखं 'अनेकान्त की व्यवहार्यता' में एक दार्शनिक निबन्ध के लगभग सभी आवश्यक तत्त्वों का अभाव है। लेखक का यह लेख

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किसी समीक्षात्मक टिप्पणी के स्तर का नहीं है। अतः यहाँ लेखक के इस लेख पर कोई समीक्षात्मक टिप्पणी नहीं की जा रही है।

डॉ. राजकुमारी जैन ने अपने लेख 'अनेकान्तात्मक स्वरूप : ज्ञानमीमांसीय सन्दर्भ' में अनेकान्त की चर्चा मुख्य रूप से ज्ञेय को आधार बनाकर की है तथा ज्ञेय अर्थात् ज्ञान के विषय को अनेकान्तात्मक मानते हुए अनेकान्त को वस्तु के प्रतिपक्षी धर्म-युगलों के युगपत् सद्भाव के रूप में परिभाषित किया है। यह प्रतिपादन जैन परम्परा के अनुरूप ही है। लेखिका ने लिखा है : 'एक वस्तु के वस्तुत्व के निष्पादक एक-अनेक भेद, अभेद, सामान्य-विशेष् आदि सप्रतिपक्षी धर्म-युगलों का युगपत् सद्भाव अनेकान्त कहलाता है। ... ... ज्ञान का विषय अनेकान्तात्मक, एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक, सामान्य-विशेषात्मक वस्तु होती है।'' (पृ. ५४)

प्रत्यक्ष, अनुमान आदि सभी प्रमाणों द्वारा अनेकान्तात्मक वस्तु ही जानी जाती है। जानने की प्रक्रिया में वस्तु के एक-एक धर्म को ग्रहण करके वस्तु को पूर्ण रूप से जाना जाता है। लेखिका ने यहाँ पर प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण की प्रक्रिया के द्वारा वस्तु के अनैकान्तिक स्वरूप को सिद्ध करने का प्रयास किया है तथा इस सन्दर्भ में सत् की भी चर्चा की है। ध्यातव्य है कि लेखिका ने यहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों की ही चर्चा की है, स्मृति, तर्क और प्रत्यभिज्ञान की चर्चा नहीं की है। यहाँ यदि इन प्रमाणों की प्रक्रिया के द्वारा भी वस्तु की अनेकान्तता को सिद्ध किया होता तो शायद लेख में और अधिक स्पष्टता आ जाती।

लेखिका ने ज्ञान के साधन के अतिरिक्त स्याद्वाद-नय के द्वारा भी वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को सिद्ध करने का प्रयास किया है। लेखिका ने लिखा है, 'भाषा के प्रयोगपूर्वक होने वाले ज्ञान में गुण को गुणी से पृथक् करके जाना जाता है। यह ज्ञान स्याद्वाद-नय- संस्कृत रूप से होने पर ही यथार्थ होता है। स्याद्वाद प्रमाणात्मक या सकलादेशी होता है। उसके द्वारा सामान्य रूप से वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप का ज्ञान होता है।'' यहाँ लेखिका का यह विचार कि ''भाषा के प्रयोगपूर्वक होने वाले ज्ञान में गुणी से पृथक् करके जाना जाता है'', युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि गुण को गुणी के सन्दर्भ में ही जानते हैं तथा गुणी को गुण के माध्यम से।

बौद्ध और अद्वैत वेदान्ती ज्ञेय को अनेकान्तात्मक नहीं मानते। उनके अनुसार वस्तु पूर्णतया एकस्वभावी होती है। ज्ञेय के सम्बन्ध में बौद्ध और अद्वैत वेदान्त के मत को प्रस्तुत करते हुए लेखिका ने यह प्रतिपादित किया है कि जैन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दार्शनिक भी उनके इस मत से सहमत हैं। लेखिका ने लिखा है कि—"जैन दार्शनिक भी बौद्ध और अद्वैत वेदान्त के इस मत से सहमत हैं कि सत्ता पूर्णतया एकस्वभावी ही होती है। आत्मा सम्पूर्णतः एकस्वभावी सत्ता—ज्ञान स्वभावी सत्ता—है तथा ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" (पृ. ५८) लेखिका के ये विचार युक्तिसंगत नहीं हैं, क्योंकि, प्रथम तो जैन दार्शनिक वस्तु को एकस्वभावी नहीं मानते हैं और दूसरे पहले लेखिका ने स्वयं ज्ञेय को अनेकान्तात्मक प्रतिपादित किया है।

इस लेख में कई स्थानों पर वाक्य-रचना और वाक्य-विन्यास ठीक नहीं होने के कारण वैचारिक और भाषायी अभिव्यक्ति ठीक से नहीं हो पायी है। उदाहरण के लिए एक वाक्य लें, "प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा एक वस्तु के अनेक अन्वयव्यतिरेकी दृष्टान्तों के ज्ञानपूर्वक होने वाले कारण-कार्य सम्बन्धों के ज्ञान के परिणामस्वरूप द्रव्य के शक्ति-व्यतिमय द्रव्य-पर्यायात्मक स्वरूप का ज्ञान निरन्तर अधिक स्पष्ट और परिष्कृत होता जाता है।" (पृ. ६२)

राजवीर सिंह शेखावत,
दर्शन विभाग,
महारानी श्रीजया स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
भरतपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत
दर्शन प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

1.	मूल्यतत्त्व-मीमांसा (शंकर पुरस्कार तथा मंगलाप्रसाद पुरस्कार से सम्मानित)	-	यशदेव शल्य	200.00
2.	चिद्विमर्श	-	यशदेव शल्य	175.00
3.	तत्त्व-चिन्तन	-	यशदेव शल्य	200.00
4.	काव्य-विमर्श	-	यशदेव शल्य	250.00
5.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-धाराएं	-	यशदेव शल्य भगवती	150.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection